विप्लव प्रकाशक सं--२४

देखा, सोचा, समझा

(कहानी के रूप में आपबीती घटनाएँ)

यशपाल

(तीसरा संस्करण)

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

मार्च १९५९

तीन रुपये पचास पैसा

प्रकाशक—
विप्लव कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक—
साथी प्रेस
लखनऊ

प्रथम मुद्रण
नवम्बर १९५१

समर्पण

जो पाठक आंख खोल कर 'देखने', देख कर 'सोचने' और सोच कर 'समझने' के लिये तैयार हैं, उन्हीं को यह पृष्ठ समर्पित है।

यशपाल

१

सेवाग्राम के दर्शन*

सन १९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही सरकार ने भारत की इच्छा के विरुद्ध भी देश को उस युद्ध में लपेट लिया। उस समय देश के सभी राजनैतिक दल युद्ध में भाग लेने के विरुद्ध थे। ब्रिटिश सरकार के इस अन्याय के विरोध में कांग्रेस मंत्री-मण्डलों ने शासन से असहयोग कर त्यागपत्र दे दिये। कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व मे युद्ध-विरोध का आन्दोलन तो आरम्भ किया परन्तु आन्दोलन को व्यक्तिगत सत्याग्रह की सीमा में ही रखा। वामपक्षी जनता, कम्युनिस्ट और श्री सुभाष बोस के अनुयायी—फारवर्ड ब्लाक के लोग युद्ध का विरोध सार्वजनिक आन्दोलन के रूप में चाहते थे। मैं उन दिनों 'विप्लव' का सम्पादन और प्रकाशन कर रहा था और विप्लव में लगातार सार्वजनिक आन्दोलन के पक्ष में लिख रहा था।

मध्यप्रदेश× के वामपक्षी लोगों ने साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में आन्दोलन को सार्वजनिक रूप देने की माँग के लिये एक प्रान्तीय सम्मेलन का आयोजन किया था। इस सम्मेलन का सभापति उन्हों ने मुझे बनाना चाहा। इसी प्रसंग में नागपुर गया था। नागपुर पहुंच कर 'सेवाग्राम' लगभग सत्तावन-अट्ठावन मील ही रह गया। सेवा- ग्राम जाकर गांधी जी का दर्शन करने की इच्छा हुई। गांधी जी के मुख से ही समझना चाहता था कि साम्राज्य-विरोधी युद्ध और स्वराज्य के सार्वजनिक उद्देश्यों से चलाये गये आन्दोलन को व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप देकर व्यक्तिगत

---

* यह लेख सेवाग्राम से लौटने के कुछ ही समय पश्चात लिखा गया था। इसलिये क्रियाओं का व्यवहार भूतकाल में न होकर वर्तमान काल में ही मिलेगा।

×अब मध्य भारत और बरार का प्रदेश।

प्रश्न क्यों बनाया जा रहा है ? दूसरी बात यह थी कि मनुष्य-समाज ने सहस्रों वर्षों के प्रयत्न से जिस औद्योगिक-यांत्रिक सभ्यता का विकास किया है उसे छोड़कर मनुष्य-समाज के कल्याण के लिये उसे फिर से घुटने के बल रेंगने वाले, चर्खा और घरेलू उद्योग-धन्धों के युग में पहुँचा देने का यत्न करने वाले 'महात्मा' के दर्शन के अवसर की उपेक्षा करना भी उचित न जान पड़ा।

अपने सहृदय यजमान अर्थात् मेजबान के सम्मुख अपनी इच्छा प्रकट की। वे अपनी गाड़ी में सेवाग्राम तक पहुँचा देने के लिये तैयार हो गये। नागपुर नगर पठार के इलाके में होने के कारण खासी गर्म जगह है। कडकती धूप में सत्तावन-अट्ठावन मील का सफर विशेष आकर्षक न था परन्तु महात्मा जी के दर्शन, स्वयम उन्हीं की कुटिया में करने का प्रलोभन भी प्रबल था इसलिये चले।

धूप तेज़ थी, चारों ओर का प्रदेश खुश्क। यह इलाका संतरों के लिए प्रसिद्ध है। संतरों से लदे वृक्ष देखने में सुहावने भी खूब जान पडते थे परन्तु फल धूप की तेज़ी से फीके पड़ गये थे जैसे सुन्दर वस्त्रों में लिपटी नगर की स्वास्थ्यहीन, निस्तेज नारियाँ। हाँ, उन संतरों के बागों में पेड़ों को सींचने वाली और फल तोड़ इकट्ठे करने वाली ग्रामबधुयें वैसी विरस न थीं--छिलके पर कुछ हरियाली और रस में तुर्शी भी मौजूद थी।

चिलचिलाती धूप में, सामने वर्धा से आने वाली लारियों से उड़ते गर्द के बादलों को पार करते चल जा रहे थे। उस तपी हुई सड़क पर खद्दर का कुर्ता, जांघिया और गाँधी टोपी पहने, कंधे से कम्बल में लिपटा छोटा सा विस्तर लटकाये, हाथ की लाठी पर तिरंगा फहराये चले आते चार सज्जन दिखाई दिये। अनुमान किया, सत्याग्रह का ब्रत लेकर देहली की पैदल यात्रा करने वाले स्वयंसेवक होंगे। मध्यप्रदेश में इस प्रकार का सत्याग्रह प्रायः हो रहा है। इटारसी स्टेशन पर भी ऐसे एक सज्जन के दर्शन हुये थे। परिचय कराया गया था कि यह सज्जन पहले दो बार डेढ़-डेढ़-सौ मील की पैदल यात्रा कर प्रांत की सीमा पर पहुँच चुके थे। सीमा लांघने से पूर्व ही पुलिस इन्हें गिरफ्तार कर लेती है और रेल से सौ-डेढ़ सौ मील लौटा कर पुनः यात्रा आरम्भ करने के लिये छोड़ देती है। ये सज्जन 'किंग आर्थर' की मकड़ी की तरह अपना प्रयत्न फिर आरम्भ कर देते हैं।

ऐसे उत्साही और दृढ़ब्रती कार्यकर्त्ताओं के मन की भावना जानने की इच्छा

हुई। ठीक उनके समीप पहुँच कर कार के सहसा रुक जाने से वे चकित भी हुए। गाड़ी से निकल कर उन से अंग्रेज़ी में पूछा—"आप कहाँ जा रहे हैं।"

दृढ़ता से उन्हों ने उत्तर दिया—"हम लोग सत्याग्रही हैं। हम दिल्ली जा रहे हैं।"

"इससे क्या लाभ ?"

"हम जा रहे हैं, आप जो चाहें कर सकते हैं।" उन्हों ने चुनौती दी।

समझ में आया सत्याग्रहियों ने मुझे अपना मित्र नहीं समझा। कुछ आश्चर्य भी न हुआ क्योंकि गांधी जी से मिलने जाते समय खद्दर का कुर्त्ता पहनना आवश्यक नहीं समझा था। मेरे यजमान श्री० पी० वाई० देशपाण्डे और कामरेड मोटे भी कार से निकल आये। देशपाण्डे जी के खद्दर के कुर्त्ते, पायजामे से सत्याग्रहियों को सन्तोष हुआ और उन्हों ने साधुता से बात करना आरम्भ किया।

प्रश्न किया—"इस प्रकार कष्ट उठाकर गाँवों में प्रचार का उद्देश्य क्या है ? आप जनता को क्या सन्देश देते हैं ?"

"युद्ध में सहायता न देने का प्रचार।"

१९४१ में गांधी जी द्वारा आरम्भ किये गये युद्ध-विरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह का यही रूप था। सत्याग्रही स्वयंसेवकों से फिर प्रश्न किया—

"इस प्रचार का उद्देश्य ?"

"हम अपने देश में विदेशी शासन नहीं चाहते, स्वराज्य चाहते हैं।"

"आप जनता को स्वराज्य के लिये आन्दोलन करने का सन्देश देते हैं ?"

"हाँ" स्वयंसेवकों ने स्वीकार किया।

"परन्तु गांधी जी की आज्ञा है कि फिलहाल युद्ध के समय आन्दोलन स्वराज्य के लिये नहीं केवल अहिंसा प्रचार के लिये किया जा रहा है।"

"हम भी यही सन्देश देते हैं।"

"फर्ज़ कीजिये, यदि स्वराज्य हिंसा के बिना न मिले तो आप स्वराज्य के लिये यत्न कीजियेगा या अहिंसा के लिये ?"

"अहिंसा के लिये।"

"तो फिर यह स्वराज्य के लिये प्रचार कैसे हुआ ?"

"स्वराज्य से अहिंसा हो जायगी।"

"स्वराज्य हो जाने से इन गाँवों में किसानों और मिलों के मज़दूरों पर

होने वाली हिंसा कैसे रुकेगी ? जब तक उन्हें अपने परिश्रम का पूरा फल न मिले, उनकी अवस्था सुधर नहीं सकती। उन्हें अपने परिश्रम का पूरा फल उस समय तक नहीं मिलेगा जब तक उन्हें मालिकों के लाभ के लिये मालिकों की इच्छा से काम करना पड़ेगा और जब तक किसान-मजदूर का शोषण होगा, अहिंसा कायम हो नहीं सकती। किसान-मजदूर का शोषण भी तो हिंसा ही है। सात समुद्र पार जो हिंसा हो रही है, उसकी आपको इतनी चिन्ता है और आप के अपने देश में गाँव-गाँव, शहर-शहर शोषण के रूप में जो हिंसा है, उसकी आपको चिन्ता नहीं ?"

"परन्तु जब आप सब को समान करने का यत्न करेंगे तो मालिक श्रेणी के लोग, जो आज मजे में गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, चिल्लायेंगे, हम पर हिंसा हो रही है, तो आप क्या कीजियेगा ? करोड़ों आदमियों पर होने वाली हिंसा को दूर करने के लिये सौ-पचास आदमियों को शक्ति प्रयोग से वश में रखना पड़ेगा तो आप क्या कीजियेगा ?"

"अभी तो हम लोग सत्याग्रह कर रहे हैं।" दल के नेता ने उत्तर दिया। नौजवान परस्पर एक दूसरे की ओर देखने लगे थे इसलिये नेता ने नमस्कार कर चलने की आज्ञा चाही।

अपने यजमान या मेजबान श्री पी० वाई० देशपाण्डे एम०ए०, एल-एल० बी० का परिचय नहीं दिया है। आप मराठी के प्रमुख साहित्यिक हैं। कथा साहित्य में राजनैतिक प्रगति का पुट देने का आप को विशेष श्रेय है। नागपुर विश्वविद्यालय के ला कालिज में आप लेक्चरार भी हैं। शरीर से बहुत संक्षिप्त, मौक़े पर चुभती हुई कह देना आप की प्रकृति का अंग है। देशपाण्डे विदा लेते हुए सत्याग्रही नवयुवकों को सम्बोधन कर बोले--"संसार से विदाई माँगने वाले वृद्धों को अपना स्वर्ग सँभालने दो ! तुम तो इस पार्थिव संसार की चिन्ता करो !" नवयुवकों ने केवल दुविधा के भाव से मुस्करा दिया।

गांधी जी से मुलाकात हो जाना बहुत सरल नहीं है। यदि उन के मंत्रियों ने इन्कार कर दिया तो क्या करना होगा ? भगवान राम के चरणों को धोने का सौभाग्य पाने के लिये केवट को छल करना पड़ा था। क्या हमें भी महात्मा जी के दर्शनों का पुण्य संचय करने के लिये किसी छल का पाप करना पड़ेगा ? इसी विषय पर परिहास करते उस धूप में चले जा रहे थे।

धूप की गरमी का प्रभाव श्री देशपाण्डे के सूक्ष्म शरीर पर भी पड़ रहा

था। वे गाड़ी की रफ्तार बढ़ाते जा रहे थे। ४० से ४५, ४५ से ५० और आगे भी। भारी गाड़ी होती तो एक बात थी। भय था, हल्के शरीर की गाड़ी कहीं कलाबाज़ी न खा जाय। 'हिंसा' की सम्भावना की ओर ध्यान दिला उन्हें रफ्तार कम करने के लिये कहा। उत्तर मिला--"स्पीड से मुझे कुछ इमोशनल अटैचमेण्ट है (तीव्र गति से कुछ भावानुरक्ति है) इसीलिये गांधीवाद, जो समाज को पीछे की ओर खींच रहा है, मुझे नहीं सुहाता।"

निवेदन किया--"गांधीवाद अपने को भी मंज़ूर नहीं परन्तु उस का विरोध करने के लिये गाड़ी उलट कर प्राण दे देने के त्याग की भावना का भी स्वागत नहीं कर सकते।"

वर्धा कुछ ही दूर रह गया था। ख़याल आया कि गांधी जी के प्रान्त और नगरी में गांधीवाद का प्रभाव कितना है, इस बात की आज़माइश कर लेना भी उचित होगा। वर्धा से दो-तीन मील इधर ही, एक गाँव में जाकर गांधी जी और उन के उपदेश के प्रभाव के विषय में कुछ जानना चाहा। चर्खे का वहाँ कुछ भी प्रचार नहीं है। खद्दर का व्यवहार रुपये में दो आने होगा। वह खद्दर शुद्ध था या जापानी, कहना कठिन है। जब चर्ख़ा नहीं तो शुद्ध खद्दर कहाँ से होगा ?

स्वयं वर्धा में जमनालाल जी बजाज का एक मन्दिर है। सुना कि बजाज जी ने अछूतों को अपने मन्दिर में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है परन्तु अछूत लोग स्वयं ही मन्दिर में नहीं जाते। जाते क्यों नहीं ? इस प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं मिला। या तो अछूत मन्दिर में जाने का कोई लाभ नहीं समझते या उन्हें साहस नहीं होता ? इस ज़िक्र में याद आ गई राहुल जी की एक बात। गांधी जी द्वारा अछूतों के लिये मन्दिर प्रवेश आन्दोलन पर राय देते हुए आप ने कहा था--अछूत मन्दिर में जाकर ही क्या कर लेंगे ? सवाल तो है उनके पेट में रोटी जाने का। इस से तो कहीं अच्छा होता यदि गांधी जी सम्पूर्ण देश को उपदेश देते कि लोग अण्डे खाया करें। इस से देशवासियों का स्वास्थ्य सुधरेगा और देश भर के लिये मुर्ग़ी पाल कर अण्डे पैदा करने का ठेका रहता अछूतों के पास ताकि इस से उन की आर्थिक अवस्था सुधर सकती।

गांधी जी स्वयं रहते है सेवाग्राम में परन्तु उन का सेक्रेटेरियट वर्धा में है। सेवाग्राम में अंग्रेज़ सरकार बहादुर ने टेलीफोन लगवा दिया है इसलिये गांधी जी के सेक्रेटरियों और अखिल भारतीय कांग्रेस के मंत्री तथा कार्यकर्ताओं,

अखिल भारतीय चर्खा संघ, उन के प्रकाशन विभाग आदि के प्रबन्धकर्ताओं को गांधी जी से बातचीत करने में आसानी रहती है। गांधी जी तक पहुँच पाने के लिये पहले सेठ जमनालाल जी बजाज की कोठी की ओर चले। 'अखिल भारतीय कांग्रेस' का कार्यालय बजाज जी की ही कोठी पर है। आशा थी, वहाँ कृपालानी जी से भेंट होने पर गांधी जी तक पहुँचने का कोई रास्ता निकल आयेगा।* कृपालानी जी से अपनी फरारी के दिनों से ही कुछ परिचय था।

कृपालानी जी के दर्शन कोठी के बराम्दे में ही हो गये। मुझे देखते ही पुकार उठे—"अरे तुम यहाँ कहाँ ? तुझे तो जेल में होना चाहिए था !" उन का मतलब था, व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेकर।

"पर आप भी तो जेल के बाहर ही हैं" उत्तर दिया। अपनी तुलना इतने बड़े व्यक्ति से करने पर स्वयं ही झेंप भी मालूम हुई इसलिये कहा, "दादा, यह तो व्यक्तिगत सत्याग्रह है। इस में बड़े-बड़े व्यक्तियों का भाग लेना ही शोभा देता है। हम तो जनता हैं। जब आन्दोलन सार्वजनिक होगा, तभी भाग ले सकेंगे।"

"हूं, कैसे आया ?" उन्हों ने फिर प्रश्न किया।

"महात्माजी के दर्शन की इच्छा है।"

"पहले से समय निश्चय कर लिया है ?"

"नहीं। यहाँ नागपुर आने पर ही खयाल आया।"

"तो महादेव से मिलकर पूछो।"

गांधी जी के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई वर्धा में मौजूद नहीं थे। उनकी जगह काम कर रहे थे श्री किशोरीलाल मशरूवाला। उनसे मिल कर गांधी जी के दर्शन की प्रार्थना करने पर उत्तर मिला कि क़ायदे से हमें पहले समय निश्चित कर लेना चाहिये था। अपनी ग़लती स्वीकार की और फिर भी प्रार्थना की कि बहुत दूर से आये हैं, फिर आ सकने के अवसर की आशा नहीं।

मशरूवाला जी ने फ़ोन पर बात कर समय निश्चित कर लिया। मालूम

---

*उस समय कृपलानी जी अखिल भारतीय कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी थे। (दूसरे संस्करण के समय दिया गया नोट)।

हुआ कि सेवाग्राम में बाहिर से आने वाले व्यक्तियों के लिए भोजन की दुकान या होटल की कोई व्यवस्था नहीं है इसलिये स्टेशन के रिफ्रेशमेंट रूम में मिसिर 'केलनर एण्ड स्पेन्सर' का प्रसाद पाने के लिए जाना पड़ा।

गांधी जी से मुलाकात का समय निश्चित हुआ था, संध्या, चार बजे परन्तु हम लोग सेवाग्राम जा पहुंचे लगभग दो ही बजे। आखिर करते भी क्या........? वर्धा से गांधी जी के आश्रम तक डिस्ट्रिक्टबोर्ड ने सड़क बनवा दी है। आश्रम के लिये जगह चुनने में प्राकृतिक सौन्दर्य का किस दृष्टिकोण से विचार किया गया है, कहना कठिन है। सुदूर क्षितिज पर पठार के टीलों की अस्पष्ट रेखा ज़रूर दिखाई देती है और कुछ नहीं था। लम्बे-चौड़े, धूप से तपते हुये मैदान में दो-तीन वृक्ष हैं। कुटिया मामूली तौर पर फूस की है। गांधी जी की कुटिया और आश्रम के हस्पताल की दीवारें अलबत्ता मिट्टी की हैं। गांधी जी की कुटिया की छत अच्छी मोटी-भारी और मजबूत है। शेष कुटियां ऐसी हैं कि अच्छी जोरदार आंधी चलने पर उनके फूस का भी पता चलना कठिन होगा। आश्रम कुछ सूना सा जान पड़ा। शायद बहुत से लोग सत्याग्रह में जेल चले गये हैं।

आश्रम के मैनेजर का पता पूछा। मैनेजर श्री शाह एक कुटिया मे लेटे हुये थे। कुटिया मे खाट ज़रूर थी परन्तु खाट बान से न बुन कर उस पर तख्ते डाल दिये गये थे। तख्तों पर बिछ खद्दर के बिस्तर पर शाह साहब उस्तरे से घुटे हुये सिर पर भीगा तौलिया रखे दुपहर की नींद ले रहे थे। उनकी निद्रा भंग करने की हिंसा के सिवा उपाय न था, सो करना ही पड़ा। प्रार्थना की कि आश्रम को देखना और उसके विषय में कुछ जानना चाहते हैं।

"देख लीजिले।" शाह साहब ने लेटे ही उत्तर दे दिया।

फिर विनय की कि देखने से मतलब फूस की झोपड़ियाँ देख लेने से नहीं है। ऐसी झोपड़ियाँ तो अनेक अवसरों पर देखी हैं। प्रयोजन है, उस विचार-धारा को जानने का जिसके कारण आप लोग यह कष्टमय जीवन बिताना उचित समझते हैं।

"हमें तो इसमे कोई कष्ट जान नहीं पड़ता?" शाह साहब ने लेटे ही लेटे उत्तर दिया।

"परन्तु आपका तरीका असाधारण है। यह भी नहीं कि आप आराम से रह न सकते हों?"

शाह साहब ने कृपा पूर्वक अपने विचार समझाना स्वीकार किया। उन्हों ने बैठ जाने के लिये नहीं कहा। बैठ सकने की अनुमति मांगने पर उन्हों ने हमें नीचे बिछी चटाई पर बैठ सकने का संकेत कर दिया। कुछ खला तो जरूर पर बैठ गये। उन्हों ने बताया कि अपनी इच्छा से ग़रीबों की हालत में रहने का कारण यह है कि हमारा देश बहुत ग़रीब है, झोपड़ियों में रहता है और ग़रीबों के प्रति सहानुभुति होने के कारण हम उन्हीं की तरह रहना चाहते हैं।

निवेदन किया—"इसमें सन्देह नहीं कि आप ग़रीबों की तरह रहने का प्रयत्न करते हैं परन्तु आप उनकी तरह रह नहीं पाते। सब से बड़ा अन्तर तो यह है कि ग़रीब लोग अपनी इच्छा या शौक़ से ग़रीबी में नहीं रहते। वे दोपहर की धूप में सिर पर भीगा तौलिया रख कर आराम से लेट भी नहीं सकते। आप के स्वयं ग़रीबों की तरह रहने से तो ग़रीबों का कुछ कल्याण नही हो सकता, उन की भलाई तो उन की वर्तमान आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार होने से ो सकती है।"

"ग़रीबों की आर्थिक अवस्था में सुधार करने के लिये हमारा चर्खे का तथा घरेलू उद्योग-धन्धों का कार्यक्रम है।" मैनेजर साहब ने उत्तर दिया।

कामरेड मोटे बोले—"प्रश्न घरेलू धन्दों और मिलों के धन्दों का नहीं। प्रश्न तो यह है कि व्यवस्था ऐसी हो कि मज़दूर या किसान लोग अपने परि-श्रम से जो पैदावार करें, उसे वे अपने व्यवहार में ला सकें। नये रोज़गार बढ़ाने की भी आवश्यकता है ताकि बेकार लोग रोज़ी पा सकें?"

मैनेजर साहब ने फर्माया—"समाज में असमानता और शोषण मशीन के कारण होता है। यदि मैशीन को हटा दिया जाय तो असमानता कम हो जायगी और शोषण का साधन न रहने से शोषण न होगा। इस के अलावा सब काम हाथ से किये जाने पर प्रत्येक रोज़गार में अधिक आदमियों की आवश्यकता होगी और बेकारी नहीं होगी।"

हम लोगों ने उत्तर दिया—"मैशीन का आप पूर्ण रूप से तो बहिष्कार नहीं कर सकते। उदाहरणत: टेलीफोन, रेलवे आदि ऐसी मैशीनें हैं जिन का बहिष्कार कर देने से आज के समाज की व्यवस्था ही बिगड़ जायगी। शोषण केवल मैशीनों से ही होता हो सो बात भी नहीं। ज़मीन्दार अपने आसामियों से खेती कराकर बँटाई या लगान के रूप में जो शोषण करता है, वह तो मैशीन के बिना भी होता रहेगा। मैशीन जब नहीं थी तब दास-प्रथा के रूप

में भी शोषण होता था। मैशीन शोषण का साधन नहीं वह तो पैदावार का साधन है। शोषण पैदावार करने के साधनों या ढंग से नहीं बल्कि पैदावार को बाँटने के ढंग या व्यवस्था से होता है। मैशीन तो केवल पैदा कर सकती है, बाँटती नहीं। शोषण इसलिये होता है कि मैशीन से की गई सब पैदावार पूंजीपति मालिकों के हाथ चली जाती है और वे उस का मनचाहा भाग अपने मुनाफ़े में रखकर मजदूरों को कम से कम भाग देने का यत्न करते हैं।"

"तो इस का उपाय क्या हो सकता है ?" मैनेजर साहब ने प्रश्न किया।

"उपाय तो सीधा है, मशीनों के अधिक उपयोग से पैदावार को ख़ूब बढ़ाया जाय। मशीन को हटाकर पैदावार का काम हाथ से कराने से काम करने वालों की संख्या बढ़ जायगी परन्तु पैदावार नहीं बढ़ेगी। इस से प्रति व्यक्ति की आर्थिक व्यवस्था सुधरेगी नही बल्कि और गिर जायगी। पैदावार के साधनों अर्थात कल-कारखानों और ज़मीन को कुछ पूंजीपति व्यक्तियों की सम्पत्ति न रहने देकर परिश्रम करने वाली आम जनता या समाज की सम्पत्ति बना दिया जाय।"

सिर हिलाते हुए मैनेजर साहब ने अस्वीकार किया--"नहीं, इस तरीके में हिंसा है।"

"तो फिर आप ही कोई उपाय बताइये !"

"इस का उपाय है, पूंजीपतियों और ज़मीन्दारों को समझाना कि जनता के हित के लिये त्याग करें।" मैनेजर साहब ने उत्तर दिया।

"परन्तु आप तो समझाने का उपाय या कोई दूसरा उपाय, जिस से पैदावार के साधन जनता के हाथ में आ जायें, व्यवहार में न लाकर केवल मैशीन का विरोध कर रहे हैं। इस से तो समाज का कल्याण हो नहीं सकता। पिछले बीस वर्ष से अहिंसा के प्रचार द्वारा आप कितने लोगों को शोषण न करने के लिये समझा पाये हैं ?"

"हम लोग आहिस्ता-आहिस्ता समझाने का यत्न कर रहे हैं परन्तु हिंसा के मार्ग को हम स्वीकार नहीं कर सकते।" मैनेजर साहब ने उत्तर दिया।

मैनेजर साहब की न समझने की प्रतिज्ञा से श्री० पी० वाई० देशपाण्डे कुछ ऊब से गये। इस व्यर्थ की बहस के बजाय उन्होंने सिगरेट पीना ही बेहतर समझा। जेब से सिगरेट केस निकालते हुए उन्होंने मैनेजर साहब की कुटिया को धुयें से पवित्र करने की आज्ञा चाही।

मैनेजर साहब ने क्लाक के पैण्डुलम की तरह अपना सिर हिलाते हुए आज्ञा देने से इनकार कर दिया। उनके निस्तेज चेहरे पर विजय की मुस्कान भी एक क्षण के लिए दिखाई दी, मानों एक बात में तो उन्हों ने हम लोगों को निरुत्तर कर दिया।

उनकी इस आत्मतुष्टि को देख कर श्री० देशपाण्डे के लिये हँसी रोकना कठिन हो गया।

मैं पतलून पहने था। जमीन पर बैठने में मुझे आराम नहीं मालूम पड़ रहा था इसलिये उठ कर घूमना ही चाहा। उस चिलचिलाती धूप में हमारे आश्रम पहुँचने पर भी मैनेजर साहब ने हमें जल वगैरा के लिये पूछना आवश्यक नहीं समझा।

देशपाण्डे साहब को समय काटना मुश्किल हो रहा था। मैनेजर साहब को सम्बोधन कर उन्हों ने पूछा—"शायद एक गिलास जल तो आप पिला ही सकते हैं ?"

मैनेजर ने स्वीकार किया कि ऐसा वे कर सकते हैं और उन्होंने करके दिखा भी दिया।

अतिथि के प्रति इस व्यवहार को गांधीवादियों का साधारण नियम नहीं कहा जा सकता। वर्धा में गांधी आश्रम के मंत्री और गांधी जी के स्टाफ के मेम्बर श्री किशोरीलाल मशरूवाला के यहाँ जाने पर उन्हों ने जल और भोजन दोनों के लिये हमें पूछा था। सम्भवतः अतिथियों के प्रति उपेक्षा करना आश्रम का ही रिवाज है। इसके लिये आश्रमवासियों को दोष भी नहीं दिया जा सकता। हो सकता है, आश्रम देखने जाने वालों की संख्या इतनी अधिक हो कि सब को जल पिला देना भी आसान काम न हो। चिड़ियाघर में जाने वाले दर्शकों को भी चिड़ियाघर के निवासी विशेष स्वागत की दृष्टि से नहीं देखते। अलबत्ता चने या मूंगफली के रूप में कुछ भेंट लेकर जायं तो बात दूसरी हो सकती है।

घड़ी में तीन ही बज पाये थे और गांधीजी से मुलाकात का समय चार बजे था। आश्रम में शायद कोई ऐसा छाया का स्थान न था जहाँ हमें बैठा दिया जाता इसलियें धूप में ही घूमना पड़ा। परेशान होकर सेक्रेटरी साहब की तलाश की। इस समय श्री मशरूवाला वर्धा से आश्रम में आ गये थे। देशपाण्डे साहब ने उनसे प्रार्थना की कि मुलाक़ात करा सकते हैं तो कराइये,

वर्ना यों धूप में प्रतीक्षा करते रहना कठिन है। उन्हें इतना कह कर हम लोग आश्रम के बाहर एक वृक्ष के नीचे सड़क पर खड़ी गाड़ी में बैठ सिगरेट जला कर प्रतीक्षा करने लगे। कुछ मिनिट में श्री मशरूवाला सिर पर तौलिया रखे आते हुये दिखाई दिये और सूचना दी कि मुलाक़ात अभी हो सकती है।

गांधी जी की कुटिया खूब ठंडी थी। दीवारें ईंट की न होकर मिट्टी की हैं, इससे धूप में तपती नहीं। छत भी फूस की खूब मोटी और भारी है। गरम हवा को रोकने के लिये टट्टियां भी लगी हुई थीं परन्तु खस की नहीं। श्री मशरूवाला से पूछा—"आश्रम के समीप ही वर्धा नदी होने से शायद खस का मूल्य अधिक नहीं देना पड़ेगा फिर खस के स्थान पर फूस क्यों ?"

उत्तर मिला—"खर्च का कोई सवाल नहीं है। प्रश्न भावना का है। खस की सुगन्ध के साथ नज़ाकत और अमीरी की भावना जुड़ी हुई है ? वह गाँधी जी के विचारों के अनुकूल नहीं।"

मशरूवाला साहब का उत्तर उनके दृष्टिकोण से सही है परन्तु यदि समान परिश्रम और व्यय से मनुष्य के जीवन को अधिक सुखमय बनाया जा सकता है तो इससे मनुष्य के पतन की सम्भावना नहीं दिखाई देती। जब अकारण ही विश्राम और सौन्दर्य को दूर रख कर गरीबी और कुरूपता को अपनाया जाय तो इसे त्याग के प्रदर्शन के सिवा और क्या कहा जायगा ? साधारणत: यह सादगी नहीं, सादगी का प्रदर्शन ही कहा जायगा।

कुटिया में फर्श पर एक ओर बिस्तर लगा था। बिस्तर पर गांधी जी लेटे हुये थे। दूसरी ओर दर्शनार्थ आने वाले सज्जन बैठे थे। गांधी जी के सिरहाने एक डेस्क सामने रखे श्री मशरूवाला और उन के समीप श्री कृपालानी बैठे थे। गांधी जी के चरणों के समीप बैठी एक 'बेन' (बहिन) छत से लगे हल्के पंखे को जल्दी-जल्दी खींच रही थीं। पंखा केवल गांधीजी के बिस्तर पर था।

गांधी जी के चरणों की ओर, उनकी दृष्टि के सामने हम लोग भी जा बैठे। एक भीगा कपड़ा गांधी जी के सिर पर, दूसरा पेट पर और एक चिन्दी उनकी पाँव की उंगली पर बंधी हुई थी। वे चित्त निढाल से लेटे हुये थे। हमारे आदर पूर्ण नमस्कार का उत्तर गांधी जी ने हाथ जोड़ कर दिया।

इतनी दूर जाने का प्रयोजन केवल दर्शन ही नहीं कुछ बातचीत करना भी था परन्तु उस परिस्थिति में सहसा कुछ कहते न बन पड़ा। श्री० पी० वाई० देशपाण्डे ने ही बात शुरू की—"महात्माजी आप की तबियत तो ठीक है ?"

"तबियत खराब नहीं है" महात्माजी ने उत्तर दिया, "यह इसलिये किया गया है कि तबियत खराब हो न जाय। पेट पर गीली मिट्टी इसलिये रखी गई है कि खून का दबाव न बढ़े और संध्या के समय सैर की जा सके। पैर में पट्टी इसलिये बँधी है कि यहाँ की मिट्टी खराब होने के कारण पैर में बिवाइयाँ फट जाती हैं। अभी बिवाई से खून तो नहीं निकला पर पट्टी न बाँधने से निकल आयगा। यह सब स्वास्थ्य बिगड़ने न देने की सावधानी है।"

यह विश्वास हो जाने पर कि महात्मा जी की तबियत ठीक है, उन की आज्ञा ले प्रश्न किया :--

स्वराज्य की मांग राजनैतिक आन्दोलन है। राजनैतिक उद्देश्य से स्वराज्य या युद्ध-विरोध पूरे देश की, पूरी जनता की समस्या है। इस आन्दोलन को व्यक्तिगत प्रश्न या व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप दे देना कैसे उचित हो सकता है ? ऐसा सत्याग्रह करने के लिये भगवान में विश्वास की शर्त लगाना ठीक नही। भगवान में विश्वास सार्वजनिक या राजनैतिक प्रश्न नहीं, साम्प्रदायिक और व्यक्तिगत प्रश्न है। ऐसी शर्त लगा देने से अनेक राष्ट्रीय कार्यकर्ता, जो राजनैतिक उद्देश्य से जन-हित के लिये कुर्बानी करने के लिये तैयार हैं, देश की वर्तमान परिस्थितियों में निशस्त्र या अहिंसात्मक आन्दोलन की नीति को स्वीकार करते हैं परन्तु भगवान के अस्तित्व को युक्ति से प्रमाणित होते न देख उसे मानने के लिये या झूठ-मूठ विश्वास प्रकट करने के लिये तैयार नहीं, देश की स्वतन्त्रता के लिये सत्याग्रह और आन्दोलन में भाग लेने से वंचित हो जाते हैं। सार्वजनिक समस्या को व्यक्तिगत आन्दोलन बना देना और राजनैतिक आन्दोलन में भगवान पर विश्वास की धार्मिक या साम्प्रदायिक शर्त लगाना कहाँ तक ठीक है ?*

गांधी जी ने उत्तर दिया--ईश्वर पर विश्वास को आवश्यक समझने के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि सत्याग्रही के लिये शक्ति और प्रेरणा का स्रोत भगवान के सिवा दूसरा नहीं है। निशस्त्र होकर और शारीरिक रूप से निर्बल होकर भी भगवान के भरोसे ही सत्याग्रही भय का सामना कर सकता है....। अपने चरणों के समीप बैठी हुई दो 'बेनों' की ओर संकेत कर, इस बीच में

---

*गांधी जी ने १९४१ के युद्ध-विरोधी सत्याग्रह में भाग लेने के लिये ईश्वर में विश्वास होने की शर्त लगा दी थी। (दूसरा संस्करण)

एक और महिला आ बैठी थीं, गांधी जी बोले--यह बेनें तोपों की गरज और तलवारों की चमक का सामना भगवान के भरोसे के बिना कैसे कर सकती हैं ? दूसरा कारण है कि इस समय सत्याग्रह का मार्ग दिखाने का काम मैं ही कर रहा हूँ । आशा नहीं मैं अधिक दिन तक जी सकूंगा । मेरी ग़ैरहाज़िरी में सत्याग्रहियों को कौन मार्ग दिखायेगा ? भगवान से प्राप्त प्रेरणा के अनुकूल मैं सत्याग्रह का मार्ग निश्चित करता हूँ । अपनी ग़ैरमौजूदगी में सत्याग्रहियों से आशा करूँगा कि वे भगवान पर विश्वास कर अपना मार्ग निश्चित करें । इस आन्दोलन को व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप भी इसीलिये दिया गया है कि इस में वे ही लोग भाग लें जिन पर मैं विश्वास कर सकता हूँ ।

फिर प्रश्न किया--भगवान पर विश्वास करने का उपदेश आप शक्ति और साहस प्राप्त करने के लिये देते हैं परन्तु जो लोग किसी दूसरी शक्ति शक्ति और साहस प्राप्त करने की आवश्यकता न समझ कर स्वयं अपने ऊपर भरोसा करते हैं, उन्हें आप क्यों विश्वास के अयोग्य ठहरा देते हैं ? जो व्यक्ति किसी दूसरी शक्ति के भरोसे की आवश्यकता न समझ कर आत्मनिर्भर हो सकता है, उसे ही अधिक साहसी समझा जाना चाहिए । आप के सामने भगतसिंह का उदाहरण है । उसे भगवान से सहारा पाने की आवश्यकता नहीं थी । जिन को आप शारीरिक रूप से निर्बल समझते हैं, उन्हें यदि शारीरिक शक्ति से संघर्ष न कर केवल दृढ़ निश्चय द्वारा अत्याचारी के अत्याचार को सहना है तो उन की शारीरिक निर्बलता उन्हें सत्याग्रह के मैदान में अयोग्य नहीं बना सकती । जिसे आप भगवान की प्रेरणा कहते हैं, वह भी तो हमारी अपनी ही बुद्धि की समझ और विश्वास है । उसे भगवान की प्रेरणा कह देने से ही क्या विशेष लाभ हो जायगा ? ईश्वर की प्रेरणा कोई निश्चित वस्तु नहीं । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विश्वास और संस्कार के अनुसार वह बदलती रहती है । उस पर कैसे भरोसा किया जा सकता है ?

गाँधी जी ने जो कुछ कहा वह अक्षरशः दोहरा देना कठिन है । उससे शोर्टहैण्ड नोट लिए नहीं गये थे । उसका भाव-मात्र यहाँ लिखा जा रहा है । गांधी जी ने कहा--मनुष्य को स्वयं अपने से बड़ी शक्ति पर ही भरोसा करना ठीक है । मनुष्य का विवेक भरोसे के योग्य वस्तु नहीं । मैं आप लोगों को कह देना चाहता हूँ कि आपके मार्ग से सफलता न मिल सकेगी । अनेक कम्युनिस्टों ने मेरे सामने यह स्वीकार किया है ।

श्री० देशपाण्डे को महात्मा जी का एकतरफा फैसला कुछ अच्छा न लगा। वे बोले--महात्मा जी, हम भी आप को निश्चय दिला देना चाहते हैं कि आपका मार्ग किसी भी अवस्था में सफल नहीं हो सकता। और दूसरे मार्ग तो इतिहास में अनेक बार सफल हुये हैं परन्तु यह मार्ग कभी सफल नहीं हुआ....

देशपाण्डे साहब अभी और कुछ कहना चाहते थे परन्तु मैं टोक बैठा--महात्मा जी, कम्युनिस्टों, या दूसरे ऐसे लोगों के लिये, जो भगवान के बजाय विज्ञान और युक्ति पर विश्वास करते हैं, मार्ग सीधा है। उनका मार्ग अपनी बुद्धि से निश्चित किया हुआ है। यदि एक मार्ग से उन्हें सफलता नहीं मिलती वे अपना मार्ग बदल सकते हे परन्तु जो व्यक्ति भगवान की प्रेरणा से मार्ग ग्रहण करता है, उसके लिए मार्ग बदलने की गुंजाइश नहीं क्योंकि भगवान पर विश्वास करने वाला व्यक्ति यह कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि भगवान ने उसे गलत प्रेरणा दी है। वह अपने विश्वास में गलत राह को ही ठीक मान कर अपनी शक्ति समाप्त कर देगा........।

गांधी जी ने स्वीकार किया--नहीं, भगवान की प्रेरणा को समझने में भी कभी गलती हो सकती है और उस गलती को सम्भाला भी जा सकता है। मनुष्य भगवान की प्रेरणा को अपनी बुद्धि के अनुसार समझता है।

इस उत्तर से भी हम लोगों का संतोष न हुआ इसलिये फिर शंका की-यदि प्रेरणा को गलत या सही समझना मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर है तो मनुष्य की बुद्धि ही प्रधान वस्तु है। बुद्धि यदि प्रेरणा को न समझे तो प्रेरणा का कुछ मूल्य नहीं। भगवान की प्रेरणा यदि मनुष्य की बुद्धि पर ही निर्भर करती है तो यह भी ऐन मुमकिन है कि मनुष्य की बुद्धि जैसे आवश्यकतानुसार और पदार्थों को बना लेती है उसी प्रकार भगवान की प्रेरणा को गढ़ सकती है। उस के लिये भगवान का अस्तित्व होना जरूरी नही है। वह तो कल्पना की बात है। ऐसी काल्पनिक बात को ठोस राजनैतिक आन्दोलन का आधार बनाना और उस के आधार पर कुछ लोगों को, जो ईमानदारी से अपनी बुद्धि का निश्चय मानकर देश की जनता के लिए यथाशक्ति कुर्बानी करने के लिए तैयार हैं, राजनैतिक क्षेत्र से बाहर ढकेल देना कहां तक उचित है? यह आन्दोलन कांग्रेस का है। कांग्रेस के विधान का मौलिक नियम है कि सभी देशवासी, जाति और सम्प्रदाय के विचार के बिना कांग्रेस के सदस्य बन सकते हैं। भगवान में विश्वास एक साम्प्रदायिक बात है। कांग्रेस के आन्दोलन में साम्प्रदायिकता

की शर्त जोड़ना क्या कांग्रेस पर साम्प्रदायिक तानाशाही जमा देना नहीं ?

गांधी जी ने गम्भीर मुद्रा में प्रश्न किया––तो आप को इसमें क्या इतराज है ?

हमें इस का प्रयोजन ऐसे सचेत राजनैतिक प्रतिद्वन्दियों को कांग्रेस से निकाल देना जान पड़ता है जो आपकी साम्प्रदायिक तानाशाही को आँख मूंद कर मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

गांधी जी का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। उन्हों ने कुछ और कहना आवश्यक न समझा। मुख दीवार की ओर कर लिया परन्तु कृपलानी जी बोले––"आप लोग गांधी जी को कनवर्ट करने (विश्वास बदलने) आये हैं ?"

"जब हम गांधी जी द्वारा निश्चित किये मार्ग में जनता की भलाई नहीं देखते, देश को स्वराज्य मिलने की आशा नहीं देखते तो ईमानदारी के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपनी शंका पर विचार करने की प्रार्थना गांधी जी से करें।"

कृपालानी जी ने मजाक किया––"हाँ ठीक है, मुहम्मदअली भी महात्मा जी को कनवर्ट करने आये थे। वे महात्माजी को मुसलमान बनाना चाहते थे। तुम इन्हें कम्युनिस्ट बनाना चाहते हो।"

मजाक के उत्तर में मजाक ही सूझा, उत्तर दिया––"यदि मुहम्मदअली साहब को भगवान ने यह प्रेरणा दी हो कि भगवान की प्रेरणा का रूप इस्लामी होना चाहिए तो उन का यह काम ठीक ही था लेकिन हमारे मामले में एक बात का फरक है। मुहम्मदअली गांधी जी के भगवान के स्थान पर अपना भगवान देने आये थे। यह दो भगवानों में झगड़ा था। हम तो तीसरा भगवान लेकर नहीं आये हैं। हम गांधी जी को भगवान के फन्दे से छुडाने आये हैं।"

गांधी जी ने कोई उत्तर नहीं दिया। मुख दीवार की ओर ही किये रहे। उपस्थित सज्जनों ने करवटें बदलीं, मानो वे उकता गये हों। हम समझ गये, हमारी बातचीत या उपस्थिति यहाँ खल रही है इसलिये उठ जाने का हुकुम मिलने से पहले ही फिर आदरपूर्ण नमस्कार किया और उठ खड़े हुये।

गांधी जी का मुख अब भी दीवार की ओर ही था। वे शायद हमें भूल चुके थे और दूसरी ही बात सोच रहे थे। जाते समय उन्होंने हमारे नमस्कार का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा।

कृपालानी जी हमें छोड़ आने के लिये साथ ही उठ आये थे। कुटिया से

बाहर निकलते ही अपनेपन से मेरे कन्धे पर हाथ रख कर बोले--"बिलकुल गधा है तू !"

"क्यों ?" विस्मय से उन की ओर देखा ।

"गांधी को क्रांतिकारी बनाने आया है। वह साला जो कर रहा है, उसे करने नहीं देगा, उसे क्रांतिकारी बनायेगा ?" कृपलानी जी साधारण अभ्यास में सभी को साला-गधा कह डालते हैं । उन के मुँह से वह बुरा भी नहीं लगता ।

हम लोग श्री देशपाण्डे की कार में उसी समय नागपुर लौट चले । रास्ते भर अपने प्रश्नों, उत्तरों तथा गांधी जी के व्यवहार को याद कर हँसते रहे । लंबी दौड़ बोझल न जान पड़ी ।

नागपुर के पत्र सम्वाददाताओं को मेरे गांधी जी से मिलकर लौटने की बात मालूम हुई तो दो-चार मिलने आ गये । मुलाकात की बातचीत उन्हे बता देने में कोई संकोच न था । दूसरे ही दिन मध्यभारत के पत्रों मे इस मुलाकात की काफी चर्चा हो गई ।

उन दिनों 'विप्लव' के सम्पादन और प्रकाशन का बोझ कन्धों पर होने के कारण मैं तुरन्त ही लखनऊ लौट आया । सेवाग्राम की यात्रा और गांधीजी से बातचीत के सम्बन्ध में उसी समय लिखकर विप्लव के मई १९४१ के अङ्क के लिये प्रेस में दे दिया । उपरोक्त उसी लेख का उद्धरण है ।

एक ही सप्ताह के भीतर नागपुर के साथियों का पत्र अखबार की कतरन सहित मिला । यह गांधी जी से मेरी मुलाकात के सम्बन्ध में गांधी जी का वक्तव्य था । गांधी जी ने मेरे वक्तव्य की किसी बात का निराकरण न कर केवल खेद ही प्रकट किया था कि मैंने निजी मुलाकात का सार्वजनिक प्रयोग किया है ।

गांधी जी के इस वक्तव्य से मुझे विस्मय हुआ क्योंकि मैंने गांधी जी से अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध हो सकने की कोई कल्पना कभी नहीं की थी । मुलाकात के समय भी मुलाकात को प्रकाशित न करने का कोई संकेत गांधी जी ने नहीं किया था ।

कुछ ही दिनों बाद, मई के आरम्भ में एक दिन सुबह की डाक से श्री० श्रीराम शर्मा 'शिकारी' जी का पोस्टकार्ड मिला । उन दिनों श्रीराम जी 'विशाल-भारत' के सम्पादक थे । श्री० शर्मा जी ने अपने इस पोस्टकार्ड में विप्लव में प्रकाशित मेरे लेख के प्रति असन्तोष और ग्लानि प्रकट कर लिखा

था कि जिस समय हम लोगों ने गांधी जी से बातचीत की, वे भी वहाँ उपस्थित थे। मैंने अपने लेख में अविनय और झूठ का व्यवहार किया है। वे मेरे लेख का समुचित उत्तर दे रहे हैं। लेख गांधी जी की अनुमति के लिये भेज दिया गया है और उसे विशाल-भारत में प्रकाशित करके मेरी शठता का परिहार किया जायगा।

यह पत्र पढ़कर सब से अधिक आश्चर्य मुझे इस बात से हुआ कि हमारी बातचीत के समय शर्मा जी उपस्थित थे। शर्मा जी के दर्शन का अवसर मुझे केवल एक बार बिड़ला-मन्दिर देहली में साहित्यकों को दी गई एक चाय पार्टी में मिला था। उस समय उन्होंने मुझ से विशाल-भारत के लिये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर लेख लिखने के लिये कहा था। उस समय उन से हुई बातचीत याद है तो उन की रूपरेखा भूल जाने की क्या सम्भावना थी। स्मृति पर बहुत ज़ोर देने से याद आया, जिस समय हम लोगों ने गांधीजी की कुटिया में प्रवेश किया था, एक सज्जन सामान्य शरीर, खद्दर का कुर्ता-धोती और टोपी पहने गांधी जी के बिस्तर के समानान्तर दीवार के साथ चटाई पर चुपचाप प्रतीक्षा-सी में बैठे थे। हम लोगों से बात आरम्भ करने से पूर्व गांधीजी ने, शायद उन्हें पहले निबटा देने के प्रयोजन से, उन की ही ओर देखा था।

इन महाशय ने अपने स्थान से उठ कर एक छोटी सी पुस्तिका गांधी जी के चरणों में रख कर निवेदन किया था कि गांधी जी कृपा पूर्वक उसे देख लें। इसके बाद वे सज्जन चले गये या बैठे रहे इस बात पर ध्यान न गया। मेरा पूरा ध्यान गांधी जी की ओर ही लगा था। शर्मा जो के पत्र से मानना पड़ा कि शर्मा जी वहाँ पर रहे होंगे परन्तु मुझे तो शर्मा जी की अच्छी स्वस्थ और पुष्ट काया याद है और वे सज्जन थे सामान्य से कुछ न्यून। शर्मा जी को पहचान न सकने की, अज्ञान में हुई अभद्रता के लिये मुझे खेद है परन्तु 'शिकारी' की तो सफलता इसी बात में है कि शिकार उसे भाँप न पाये।

परन्तु 'झूठ' मैंने क्या लिखा ? नागपुर के पत्रों में प्रकाशित मेरे वक्तव्य पर खेद प्रकट करते समय गांधी जी ने मेरे वक्तव्य को गलत नहीं बताया था। उन्हे खेद हुआ था व्यक्तिगत मुलाकात का सार्वजनिक उपयोग किया जाने पर। शर्मा जी ने गांधी जी द्वारा अनुमोदित अपने जिस लेख से मेरे लेख का निराकरण करने की धमकी दी थी, उसकी प्रति मुझे कभी मिली

नहीं । मैंने शर्मा जी के कार्ड की प्राप्ति की सूचना देते हुये लिख दिया था कि उनका लेख देख कर उसका उत्तर देने का यत्न करूंगा । इस पर भी उनका उत्तर में लिखा लेख नहीं मिला ।

मेरा उपरोक्त लेख पढ़ कर वर्धा से श्री० मशरूवाला जी ने भी एक पत्र लिखा था । उसकी प्रतिलिपि यहाँ दिये देता हूँ:—

वर्धा ३१–५–४१

"श्री यशपाल जी

"विप्लवी ट्रेक्ट' के मई अंक में आपकी सेवाग्राम की मुलाकात को लेकर लिखा हुआ लेख पढ़ा । उसमें आपने एक दो बातें ग़लत जानकारी (information) पर लिखी हैं और उससे कुछ ग़लतफहमी पैदा होना सम्भव है ।

"यह बात सही नहीं कि गाँधी जी का सेक्रेटेरियट वर्धा में है । श्री महादेव भाई वर्धा में नहीं लेकिन सेवाग्राम ही में रहते हैं । मैं, न कोई गाँधी आश्रम का मंत्री हूं और न गाँधी जी के 'स्टाफ' का मेम्बर हूं । वास्तव में मैं किसी भी प्रकार का पदाधिकारी नहीं हूँ । सिवाय गांधी सेवासंघ की कार्यवाहक समिति का एक सदस्य हूं और कर्मचारी । महादेव भाई की अनुपस्थिति में कभी-कभी गाँधी जी को उनके पत्र-व्यवहार आदि में मदद करने के लिए सेवाग्राम चला जाता हूँ—यह आजकल की परिस्थिति में एक फालतू (Extra) सा काम है ।

"सरकार बहादुर ने टेलीफोन लगवा देने में गांधी जी पर कोई मेहरबानी नहीं की है । सिर्फ अपने ग्राहकों की संख्या में बढ़ती की है । टेलीफोन के कारण चर्खा संघ, ग्रामोद्योग संघ आदि संस्थाओं के दफ्तर वर्धा में हैं, ऐसा कहना भी गलत होगा । टेलीफोन तो दो-ढाई साल से आया है । ये दफ्तर तो वर्षों से यहीं हैं, खैर ।

"श्री शाह के स्वास्थ्य के विषय में आपको जानकारी न होने के कारण आपने उनके बाह्याचार से गलत धारणा कर ली मालूम होती है । वे कुछ काल से रीढ़ (Spine) की कमजोरी और दमे के कारण इतने बीमार रहते हैं कि उन्हें अपना काम अधिक समय लेटे रहने की स्थिति में ही करना पडता है । मैनेजर से आप विवेचन की अपेक्षा नहीं कर सकते । वे पुराने सेवक हैं, बहीखाता (accountancy)आदि के जानकार हैं । बहुत ही (honest) इमानदार और विश्वासपात्र (loyal) हैं, सच्चरित्र हैं । अपने साथियों से मिठास

से व्यवहार कर सकते हैं इसलिये स्वास्थ्य खराब होते हुए भी उन पर यह जिम्मेदारी डाली गयी है।

"हाँ, उन्हों ने आपका आतिथ्य वही किया जिस प्रकार दर्शकों (visitors) का यहाँ होता है। उसे देखते ऐसी भूल होना अस्वाभाविक नहीं है। फिर भी आपको तकलीफ हुई इसलिए क्षमा करियेगा। यह अनादर के कारण नही, असावधानी से हुई मानिये। आप की विनोद वृत्ति से प्रसन्न हुआ।

आपका

कि० घ० मशरूवाला"

श्री मशरूवाला ने अपने पत्र में जिस 'ग़लतफहमी की संभावना' की ओर संकेत किया है, उनमें से कोई बात गांधी जी से हुई बातचीत अथवा सिद्धान्त को गलत पेश करने के सम्बन्ध में नहीं है। गांधी जी का सेक्रेटेरियेट वर्धा मे हो या सेवाग्राम में, उस से क्या ? टेलीफोन सरकार ने गांधी जी और उनके कार्यक्रम की सुविधा के लिये मेहरबानी से नही लगवाया, अपने व्यापारिक लाभ के लिये लगवाया था, ऐसा ही होगा परन्तु एक-एक गाहक की सुविधा के लिये सरकार चार-पांच मील तक टेलीफोन का तार खींचती फिरे, ऐसा कभी देखा-सुना नही गया। टेलीफोन का ज़िक्र मैंने इसलिये कर दिया था कि गांधी जी सैद्धान्तिक रूप से यांत्रिक विकास को मानवता के पतन का कारण समझते हैं।

अलबत्ता आश्रम के मैनेजर श्रीयुत शाह के स्वास्थ्य का विचार न कर उन्हें जबरदस्ती विवेचना में घसीटने की भूल हुई। उनके स्वास्थ्य की बाबत कुछ मालूम नहीं था। जब इतनी दूर गये थे तो आश्रम की विचारधारा को समझने की इच्छा स्वाभाविक ही थी। कुछ मौके की बात कहिये कि भेंट शाह साहब से हुई और हमने उनके स्वास्थ्य और कार्य की बाबत जानकारी न होने से विवेचना में उलझा कर उन के आराम में विघ्न डाला।

सेवाग्राम में हम लोगों का आतिथ्य नहीं हुआ इस बात का कोई गिला नहीं। जिस प्रकार जनता सेवाग्राम के दर्शनों को जाती है उनके लिये शरबत के गिलास और चाय के प्याले लेकर तकल्लुफ़ में पीछे-पीछे फिरने की न तो आशा ही की जानी चाहिये न ऐसा उचित ही जान पड़ता है। अभिप्राय यह है कि जब जनता सेवाग्राम इतनी संख्या में पहुंचती है कि व्यक्तिगत रूप से उनको

मिजाज़पुर्सी नहीं की जा सकती तो उन के लिये सामुहिक रूप से एक छप्पर ही डाल दिया जाय और ज़मीन पर कुछ फूस बिछा रहे। जहाँ हम जैसे लोग, जो व्यक्तिगत रूप से प्रसिद्ध और आकर्षक नहीं, बैठकर प्रतीक्षा कर सकें। सेवाग्राम के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह व्यक्तिगत असुविधा की शिकायत के लिये, हिंसा की भावना से नहीं लिखा। प्रयोजन है केवल विचारों की ओर ध्यान दिलाने का।

२

साहित्य का मूल्यांकन

साहित्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त हैं परन्तु साहित्य के मूल्यांकन की वास्तविकता दूसरी ही है। इन सिद्धान्तों और वास्तविकताओं में उतना ही अन्तर है जितना कि जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में दूसरे सिद्धान्तों और उन सिद्धान्तों के प्रयोगों की वास्तविकता में।

लगभग सन् १९४५ के मई-जून की बात है। गत महायुद्ध समाप्ति पर था। श्री सी० बी० राव, आई० सी० एस० (स्वर्गीय नेता श्री० सी० वाई० चिन्तामणि के पुत्र) लखनऊ सेक्रेटेरियट में, अंग्रेजी-भारतीय सरकार के प्रचार विभाग में संचालक के पद काम कर रहे थे। श्री सी० बी० राव का साहित्य के प्रति अनुराग है। उस सरकार के जमाने में, जब सरकारी कार्यों में उर्दू का ही बोलबाला था, श्री सी० बी० राव के प्रचार विभाग के संचालक के पद पर होने के कारण हिन्दी के लेखकों का भी कुछ भला हो रहा था।

श्री० सी० बी० राव का लखनऊ से तबादला हो रहा था। उनके लखनऊ से जाने के समय, उनकी कृपा से लाभ उठाने वाले हिन्दी लेखकों को उन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का भी ध्यान रहा। श्री० सी० बी० राय को विदाई देने के लिये लेखकों की एक गोष्ठी अथवा चाय-पार्टी का आयोजन किया गया। इस आयोजन में शायद कवि श्री० शिवसिंह 'सरोज' का विशेष हाथ था।

तब तक हिन्दी के कम ही लेखक मुझे जानते थे परन्तु 'सरोज' जी से व्यक्तिगत परिचय हो चुका था इसलिये मुझे भी गोष्ठी में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला। एक उच्च-पदस्थ हाकिम को बिदायी देने के लिये आयोजित गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिये कुछ संकोच से ही गया; क्योंकि उस सरकार के जमाने में सरकारी अफसरों का मुझ से मिलना-जुलना सरकार की दृष्टि में बहुत वांछनीय नहीं हो सकता था। सरकार तो बदल गयी है परन्तु

वह बात आज भी अनुभव करता हूँ। साहित्य में रुचि रखने वाले अनेक सरकारी अफसर, जो सरकार के कांग्रेसी रूप लेने के ऊषा-काल में मुझ से निश्शंक मिलने लग थे, अब फिर आमना-सामना होने पर आंखें चुरा जाते हैं। कहीं निरापद स्थान में मिलने पर संकोच से दीनता भी प्रकट कर देते हैं--"भाई, सरकारी नौकरी जो करनी है.......।" खैर, निमन्त्रण में गया।

निमन्त्रण में आये हुये अधिकाँश लोगों के लिये मैं अपरिचित था। श्री० सी० बी० राव भी अधिकांश से अपरिचित ही जान पड़े क्योंकि उपस्थित लोगों से उनका व्यक्तिगत परिचय कराना आवश्यक समझा गया था। मेरी बारी आने पर 'सरोज' जी ने सरकार विरोधी 'विप्लव' का प्रसंग बचाकर मेरे कहानी संग्रहों और उपन्यासों का जिक्र किया। उन्होंने मेरे लिखे उपन्यासों में 'देशद्रोही' का भी नाम लिया।

'देशद्रोही' का नाम सुन कर श्री० सी० बी० राव फड़क उठे। बोले--"आपके उपन्यास मैंने पढ़े हैं, खास तौर पर 'देशद्रोही'....." और उन्होंने उदारता से 'देशद्रोही' की प्रशंसा कर अंग्रेज़ी के कई उपन्यास लेखकों के नाम गिनाकर 'देशद्रोही' को उनके उपन्यासों से अधिक सफल बता दिया। इस पर 'सरोज' जी ने मेरी और भी अधिक प्रशंसा की।

मेरे इस परिचय और प्रशंसा से सबसे अधिक विस्मय हुआ हिन्दी साहित्य का इतिहास और अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखने वाले मिश्र बन्धुओं में ज्येष्ठ श्री शुकदेवबिहारी जी मिश्र को।

मिश्र जी मेरे सामने पंक्ति के बीचोंबीच बैठे थे। उन्हों ने कान पर हाथ रख और भौं ऊंची कर प्रश्न किया--"क्या नाम है आपका ?"

अपना नाम जरा ऊंचे स्वर में उन्हें बताया। मिश्र जी ने मेरा नाम अपनी स्मृति में खोजने का यत्न किया और फिर स्वीकार किया कि यह नाम उनके लिए नया है।

मिश्र जी ने मुझ से पूछा--"तो आपने अभी नया ही लिखना शुरू किया होगा ?"

"जी हाँ, अभी कुछ ही दिन से, पाँच-छः वर्ष से।" मैंने स्वीकार किया।

"हम ने अभी तक आप का लिखा कुछ पढ़ा नहीं। आँखों के कष्ट के कारण हम आजकल अध्ययन कम कर पाते हैं। लिखने के लिये अध्ययन करना आवश्यक है" उन्हों ने उपदेश दिया और बताया, "हम पचास पृष्ठ पढ़ते हैं

तो एक पृष्ठ लिखते हैं। आप किसी दिन अपनी लिखी कुछ कहानियाँ लेकर हमारे यहाँ आइये तो हम आप की कहानियों को देखेंगे और तब अपना मत दे सकेंगे।"

अपनी कहानियां सुनाने के लिए किसी के वहाँ जाने की बात मुझे रुचि-कर नहीं लगी परन्तु मिश्र जी के वय और हिन्दी साहित्य में उनके स्थान के प्रति आदर के विचार से उत्तर दिया—"जब भी आप आज्ञा दें, उपस्थित हो सकता हूँ।"

मिश्र जी ने तीसरे या चौथे दिन दोपहर बाद आने के लिये आदेश दिया।

अपनी कहानी दिखाने के लिये जाने का उत्साह न होने पर भी कर्तव्य निबाहने के विचार से 'पिंजड़े की उडान' और शायद 'वो दुनिया' की एक-एक प्रति लेकर गोलागंज में मिश्र-बन्धुओं के भवन में पहुंचा। सूचना देने पर भीतर बुला लिया गया।

एक बड़े से कमरे में, कमरे से कुछ ही छोटा, खूब बड़ा तख्त बिछा था। तख्त पर दरी और उस पर सफेद चादर और बड़े-बड़े दो गाव तकिये पड़े थे। ज्येष्ठ और कनिष्ठ दोनों ही मिश्रबन्धु, गरमी अधिक होने के कारण केवल महीन धोतियां पहने लेटे थे। दोनों ही गौरवर्ण, बृहद शरीर और स्थूलोदर। शरीर से आगे बढ़ी हुई तोंदों के बोझ के कारण लेटे रहने में हो उन्हें सुविधा अनुभव हो सकती थी।

कमरे में मेरे पहुँचने पर ज्येष्ठ मिश्र जी ने लेटे ही लेटे बाँह फैलाकर तख्त के समीप पड़ी एक कुर्सी की ओर संकेत किया—"आइये, बैठिये। कैसे आये ?"

उन्हें याद दिलाया—"आपने मुझे अपनी कहानी दिखाने के लिए आज के दिन आने को कहा था।" अपना नाम बताया। याद दिलाया कि बात गंगाप्रसाद-मेमोरियल लाइब्रेरी की छत पर श्री० सी० बी० राय की बिदाई की गोष्ठी में हुई थी।

याद आ जाने पर मिश्र जी बोले—"हाँ, हाँ, बैठिये !"

मिश्र जी अनेक प्रश्न मुझ से पूछते रहे। मेरा मकान कहाँ है, कितनी शिक्षा पायी है, कब से लिखना शुरू किया है, किस दफ्तर में नौकरी करता हूं या मेरा व्यवसाय क्या है आदि-आदि। यह जानकर कि मेरा व्यवसाय लिखना ही है, मिश्र जी को बहुत विस्मय हुआ।

अनेक नौकरों के अनेक बार पुकारे जाने पर एक प्रकट हुआ । मिश्र जी ने मेरे सत्कार के लिए बाजार से दो आने का कुछ मीठा-नमकीन ले आने का आदेश दिया । उसके लिए मैंने क्षमा चाही क्योंकि मैं दोपहर में भोजन काफी देर से करता हूँ ।

मिश्र जी ने मेरे नकार की परवाह न कर उत्तर दिया—"हमारे यहाँ का नियम है कि साहित्यिकों के आने पर हम उनका सत्कार करते हैं । पहले आप जलपान कर लीजिए तब आपकी कहानी देखेंगे ।"

विवश होकर उनके इस नियम के आगे झुक जाना पड़ा और एक दोने में उपस्थित किये गये 'सत्कार' को अंशता निगल और नौकर द्वारा उपस्थित कुल्हड़ से जलपान कर निवेदन किया—"यह आपके विश्राम का समय है" क्योंकि दोनों बन्धु तख्त पर अपने अंगों को ढीले छोड़ लेटे हुए थे, "मैं दो पुस्तकें छोड़े जाता हूँ । आप सुविधा से इन्हें देख सकेंगे ।" मन ही मन में उस स्थान और वातावरण से भाग निकलने के लिए छटपटा रहा था ।

ज्येष्ठ मिश्र जी ने करवट ले कर अपना जनेऊ दोनों हाथों से तान कर अपनी पीठ खुजलाते हुए उत्तर दिया—"नहीं, नहीं ! आप स्वयं अपनी सबसे अच्छी कहानी पढ़ कर हमें सुनाइये । हम इसी समय सुविधा से सुन सकते हैं ।"

अपनी कहानियों में सबसे अच्छी कहानी चुन लेना मुझे कभी आसान नहीं जंचा । वहाँ से शीघ्र ही निकल भागने के लिए मैं एक मंझले आयतन की कहानी चुन कर पढ़ डालने के लिए तैयार हुआ ही था कि मिश्र जी ने हाथ उठा कर आदेश दिया—"ऐसे नहीं ! आप पहले कहानी की घटना और उसका भाव हमें संक्षेप में मौखिक बता दीजिए और तब उसे पढ़ कर सुनाइये । इस प्रकार हम कहानी के घटनाक्रम, भाव और आपकी शैली की पृथक-पृथक विवेचना कर सकेंगे ।

उन की इस आज्ञा का भी पालन करने के लिये पहले कहानी की घटना और भाव संक्षेप में बताकर कहानी पढ़ना आरम्भ किया । मन ही मन पछता रहा था, कहाँ आ फँसा । मुंह में, परीक्षा में बैठने के तिरस्कार का कड़ुआपन भी अनुभव कर रहा था परन्तु अब तो निबाहना ही था, सो पढ़ने लगा ।

कुछ ही दूर पढ़ पाया था कि खर्राटे की आहट सुनाई दी । किताब के पन्ने से आँख चुराकर देखा, ज्येष्ठ मिश्रबन्धु की आँखें मुंद गई थीं, मुख खुल गया था और बाहें तख्त पर शिथिल हो गई थीं । पढ़ना रुक गया ।

कनिष्ठ मिश्रबन्धु की ओर देखा, वे जाग रहे थे। "पढ़िये-पढ़िये" उन्होंने उत्साहित किया। उन के शब्द से ज्येष्ठ मिश्रबन्धु भी आँखें खोल बोल उठे, "हाँ-हाँ सुन रहे हैं। आप पढ़ते जाइये।"

फिर कहानी पढ़ना शुरू किया। दो पैरे और पढ़ पाया हूँगा कि फिर खर्राटे की आहट। फिर देखा, अब की ज्येष्ठ मिश्र जी की आँखें खुलीं और कनिष्ठ की मुदी हुई थीं। इस बार पढ़ता ही गया। सोचा कि जैसे-तैसे कहानी समाप्त कर ही डालूं।

मैं कहानी पढ़ता गया। बारी-बारी से मिश्र बन्धुओं के खर्राटों और उन के विस्तृत और स्थूल उदरों से निकलने वाली ऊर्ध्व वायु और अधोवायु अपनी मुक्ति की घोषणा करती रही। उस ओर ध्यान न देने का निश्चय कर लिया और कहानी पढ़ ही डाली।

कहानी का कुछ भाग ज्येष्ठ मिश्र जी ने और कुछ कनिष्ठ मिश्र जी ने सुन लिया।

कहानी समाप्त हो जाने पर दोनों मिश्रबन्धुओं की नींद खुल गई जैसे चलती ट्रेन में गाड़ी के थम जाने पर झपकी टूट जाती है। ज्येष्ठ मिश्र जी ने करवट ले जनेऊ की सहायता से पीठ को खुजाते हुए सम्मति दी—"कहानी आप की जरूर बहुत अच्छी है। हम को बहुत पसन्द आई। आप की शैली नई है। आप की शैली को प्रेमचन्द की शैली से मिलता-जुलता कहा जा सकता है परन्तु उस में और इस में भेद है। आप को खूब अध्ययन करना चाहिये। आपने किस-किस पाश्चात्य लेखक की पुस्तकों का अध्ययन किया है ?"

जान-बूझकर मैंने 'ज़ोला', 'अनातोल-फ्रांस', 'गाब्रील-दनंजियो', 'तुर्गनेव', 'आरागों' के नाम गिना दिये। कुछ नये नाम सुनकर मिश्रजी ने विस्मय से पूछा—"क्या इन सब के अनुवाद हिन्दी में हो गये हैं ?"

"मेरा अनुमान है कि शायद नही हुये होंगे। मैंने इन्हें मूल फ्रेंच, इटालियन और रशियन में पढ़ा है।"

बहुत विस्मय से मेरी ओर देखकर मिश्रजी ने पूछा—"तो आप यह सब पढ़ लेते हैं ?····कहाँ पढ़ा आपने ?"

उत्तर दिया—"जेल में काफी बरस रहने का मौक़ा मिला है। वहाँ सिवाय इस के और कोई काम ही नहीं था।"

जेल की बात सुनकर मिश्रजी को और भी अधिक अचम्भा हुआ। उन के

कौतूहल का समाधान करने के लिए जेल जाने का कारण भी बताना पड़ा और उन्हें मालूम हुआ कि मैं राजनैतिक कारणों से जेल गया था। भगतसिंह का नाम तो उन्हें भी याद था।

बात पलट कर फिर साहित्य की ओर आई। मिश्र जी ने फिर पूछा कि मैं यहां क्या व्यवसाय करता हूँ। फिर उत्तर दिया कि केवल लिखना ही मेरा व्यवसाय है, दूसरा कोई व्यवसाय नहीं।

मेरी बेकारी के प्रति सहानुभूति से मिश्र जी के चेहरे पर करुणा झलक आई—"तो आपका निर्वाह कैसे चलता है ? क्या लिखने से गुजारा चल जाता है ?"

"जी हाँ, जैसे-तैसे चल ही जाता है।"

माथे पर चिन्ता की रेखायें प्रकट कर मिश्र जी ने फिर प्रश्न किया—"कितना बन जाता है ?"

मिश्र जी के सामने अपनी आमदनी की बात ठीक-ठीक बता देने में इन्कम-टैक्स का भय तो नहीं था परन्तु कोई ऐसी गर्व करने योग्य आमदनी भी तो नहीं इसलिये फिर भी उत्तर दिया कि जैसे-तैसे निर्वाह हो ही जाता है।

मेरी बात पर विश्वास कर सकने के लिये मिश्र जी ने मेरी पुस्तकों के बारे में अधिक ब्यौरे से पूछा, कितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, महीने में कितना लिख लेता हूँ और अन्त में अनुमान प्रकट किया—"साठ-सत्तर रुपये महीना तो हो ही जाता होगा ?"

"जी हाँ, निर्वाह हो ही जाता है" उन्हें सांत्वना दे दी।

"तब तो बहुत अच्छा है" मिश्र जी ने सन्तोष प्रकट किया, "बहुत अच्छी बात है कि हिन्दी में भी लोग लिखकर निर्वाह करने लगे हैं। अब तक हमारा ध्यान आप की रचनाओं की ओर नहीं गया था। अब आपकी जो रचनायें प्रकाशित हों, हमें भेजते रहा कीजिये। हिन्दी साहित्य के इतिहास का शेष भाग जब हम लिखेंगे, उस में आप का भी नाम लिख देंगे।

मिश्रबन्धुओं का आशीर्वाद पाकर विदा ली। उन के मकान से बाहर निकलते ही हँसी आई कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में अब मेरा भी नाम लिख दिया जायगा क्योंकि लेखक के व्यवसाय से निर्वाह के लिये साठ-सत्तर मासिक कमा ही लेता होऊँगा !

३

शिमला से कुल्लू

कई बरस से इच्छा थी कि शिमले से पहाड़ो-पहाड़ कुल्लू तक जाऊँ। १९४६ के साल, सितम्बर के अन्त मे इसी विचार से शिमला पहुँचा। इन दिनों पहाड़ों में वर्षा समाप्त हो जाती है। स्वच्छ नीले आकाश से छनती धूप में शिमला सैर-सपाटे और विनोद के लिये बहुत उपयुक्त स्थान होता है। पंजाब छोड़े लगभग सत्रह बरस बीत चुके हैं। शिमला में उतने परिचित न मिले जितने नैनीताल-मसूरी में मिल जाते हैं। अकेले घूमने का अवसर मिला।

आदमी अकेला रहता है तो चीजों को ध्यान से देखता है और सोचता भी है। 'मशोब्रा', 'वाइल्ड-फ्लावर-हाल' आदि जगहों में घूम चुका था। शिमला में मालरोड के चौराहे को 'स्कैण्डल पाइण्ट' (लफंगबाज़ी का अड्डा) भी कहते हैं। यहाँ सड़क से ऊँचो, छज्जे की तरह बनी फुलवाड़ी है। इकन्नी का टिकट लेकर बेंच पर बैठकर धूप सेकता रहता, कुछ पढ़ता या सड़क से आते-जाते लोगों को ही देखता रहता।

मसूरी में भी काफी रंगबाज़ी रहती है परन्तु जो बात शिमला में है, शायद कहीं नहीं। मसूरी में चार आदमियो के कन्धों पर उठाई हुई डांडी और रिक्शा पर चलने वाले नवाबों और राजा साहबो का ही ज़ोर अधिक देखा है।* वह पर्दे से ढंके कांच के पीछे ज़रूर साधारण जीव बन जाते हैं परन्तु सड़क पर चलते है तो भौं चढ़ाये। शिमले मे पंजाब के मध्यवर्ग के बाबू का ज़ोर रहता है। वह घर फूक तमाशा देखन की भी हिम्मत रखता है। जो रंगीनी और क़हक़हे उस की तबियत में है, दूसरे लोगो में नही क्योंकि

---

*१९५७ में मसूरी जाने पर देखा कि डाडी का रिवाज लुप्त-प्राय: हो गया है।

दूसरे प्रांतों में ब्रिटिश सरकार की शासन व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिये जारी की गई ज़मीन्दारी ने वहाँ बहुत पहले ही मध्यवर्ग को समाप्त कर दिया है। अन्य प्रांतों का मध्यवर्ग अवसरहीनता की विविशता और सफ़ेदपोशी के बोझ के नीचे सब उत्साह खो चुका है। पंजाब का मध्यवर्ग अभी किसी से कम न होने का दम भरे जा रहा है।

शिमले के लक्कड़ बाज़ार–निचले गन्दे मुहल्लों में, एक तंग कोठरी किराये पर लेकर और केवल पकौड़ियों से रोटी खाकर भी पंजाबी बाबू जब मालरोड पर सैर के लिये निकलता है तो बढ़िया सूट पहनकर और उस की बहू और बहिन, नये से नये फैशन की साड़ी या बढ़िया से बढ़िया साटिन के अति-आधुनिक ढंग के सलवार-कुर्ता पहनकर और जाली का दुपट्टा कन्धों पर डालकर। वह किसी नवाब साहब या राजा साहब के लिये राह छोड़ देने के लिये तैयार नहीं होता। कुछ बुजुर्गों को कहते सुना है––पंजाब फ़ैशन और शौक़ में बरबाद हो रहा है! बरबाद तो मध्यवर्ग को होना ही है। यांत्रिक उद्योगीकरण के ज़माने में सब कारोबारों अर्थात पैदावार के साधनों का केन्द्रीकरण होकर यदि वे सामाजिक सम्पत्ति नहीं बन जाते तो इन का कुछ एक पूंजीपतियों के हाथों में सिमिट जाना स्वाभाविक है। यह श्रेणी आज भी शोषित है परन्तु अभी इस का मन नहीं मरा। सोचता हूँ, यह अभी दो-चार दिन और हँस-खेल ले। मिटते दम तक हँस ले।

एक दिन संध्या मेरे यजमान (मेज़बान) के सुपुत्र ने, जो कि लेफ्टीनेंट बनने की तैयारी कर रहा था, आग्रह किया––सिनेमा चलिये! वह अंग्रेजी फ़िल्म देखने के पक्ष में था। अपनी कठिनाई बताई कि मैं अंग्रेज़ी फ़िल्म में जगह-जगह उखड़ जाता हूँ। उच्चारण के कारण कोई शब्द समझ नहीं पाता तो पूरा रस नहीं मिलता।

विस्मय से मेरी ओर देखकर नौजवान ने कहा––"डोंट टाक राट?" (क्या बकवास कर रहे हैं?)

"ठीक कह रहा हूँ" विश्वास दिलाया।

वह हिन्दुस्तानी फ़िल्म देखने के लिये तैयार न था। मुझे भी अंग्रेजी फ़िल्म देखने के लिये जाना पड़ा। शर्त यह रही कि जहाँ मैं चूक जाऊँ, वह बता देगा। फ़िल्म शुरू होने के कुछ ही मिनिट बाद में कुछ शब्द चूक गया। अपने साथी की ओर कान झुकाकर पूछा––"क्या कहा इसने?"

"ठीक से सुनाई नहीं दिया" उत्तर मिला।

कुछ ही मिनट बाद फिर मुझे पूछना पड़ गया।

"आवाज़ कुछ ठीक नहीं आ रही।" अब की बार उत्तर मिला।

चुप रह गया लेकिन मज़ाक की इच्छा रोक न सका। कुछ मिनिट बाद समझ आ जाने पर भी पूछ लिया—"क्या कह रही है ये ?"

"यह स्लैंग (ठेठ अमेरिकन) है। कुछ साफ़ नहीं बोल रही.......।" यानि मैं जितना समझ रहा था, नौजवान के पल्ले उस से भी कम ही पड़ रहा था।

फ़िल्म में अधिकांश 'टैप-डांस' (खटाखट उछल-कूद का नाच) था। मेरे लिये नई चीज़ थी। पहले तो कुछ कौतूहल हुआ परन्तु उस कला की बारीकी न समझने के कारण निरी उछल-कूद में बचपन सा मालूम होने लगा। बहुत धीमे स्वर में नौजवान से उस नाच का तारतम्य जानना चाहा। उन्हें भी उस में रस नहीं आ रहा था। फोटोग्राफ़ी ज़रूर अच्छी और साफ़ थी लेकिन कथावस्तु हिन्दुस्तानी फ़िल्म से ऊँचे दर्जे की नहीं थी।

फ़िल्म समाप्त होने पर बाहर निकले। दर्शकगण प्रायः सभी सूटधारी थे। आगे-आगे चलने वाली टोली की बात सुन रहा था। बात अंग्रेज़ी में शुरू हुई थी। एक-दूसरे को पूछकर फ़िल्म में चूकी हुई बातचीत और कहानी के प्रसंग को समझने की कोशिश हो रही थी। आखिर सभी लोग हाथ पर हाथ मार कर क़हक़हा लगा उठे और पंजाबी में भद्दी गाली देकर बोले—"कुछ समझ नहीं आया !" लेकिन शिक्षित मध्यवर्ग में अब भी हिन्दुस्तानी फिल्म की अपेक्षा अंग्रेज़ी फिल्म देखना ही पसन्द किया जाता है।

जब दो-चार परिचितों को पता लगा कि मैं कुल्लू तक पैदल जाना चाहता हूँ तो उन्होंने नसीहत दी—यह ठीक नहीं। सवा सौ मील बहुत होता है। कोई साथ होने से अच्छा रहेगा।

मैं चला ही अकेले यात्रा करने के विचार से था और अपने साथ सवा सौ मील पैदल चलने के लिये किसे तैयार किया जा सकता था ? इसलिये नसीहत सुनकर भी चल ही पड़ा। इस मार्ग पर 'नारकण्डा' तक मोटर चल चुकी थी इसलिये पैदल यात्रा लगभग पचास मील कम हो गई थी।

'नारकण्डा' की ऊँचाई समुद्र तल से लगभग ९३०० फ़ुट है। जाड़ों में प्रायः यह जगह दो मास बर्फ़ के नीचे ढकी रहती है। अक्टूबर के आरम्भ में

ही सर्दी अच्छी खासी हो गई गई थी। 'स्टेट-डाक बंगले' के खानसामा और चौकीदार, मि० जान ने सूर्यास्त से पहले ही अँगीठी में काफी आग जला दी थी वर्ना असुविधा होती। यहाँ आते ही साथ मिल गया, कम से कम नारकण्डा के लिये। डाक-बंगले में पहुँचते ही साथ के कमरे में ठहरे, कश्मीरी रूप-रंग के एक सज्जन से पूछा—"यहाँ बाज़ार कहाँ है ?"

"बाज़ार क्या, पाँच-सात दुकानें हैं। क्या चाहिये ?"

उत्तर दिया—"चाहिये कुछ नहीं। कुल्लू जाना चाहता हूँ। बिस्तरा और बक्सा है। कोई कुली या खच्चर किराये पर मिल जाये।"

सज्जन दुकानों तक साथ ही चल दिये और बोले—"सैर ही करने आये हैं तो पहले कल हमारे साथ 'बागी' चलिये। रात वहाँ रहेंगे, परसों लौट आयेंगे। हम लोग शिमला लौट जायेंगे आप कुल्लू चले जाइयेगा।" उन के साथ तीन और सज्जन थे जो उस समय सैर से थक कर लौटने के कारण विश्राम कर रहे थे। यह लोग दसहरे की छुट्टियों में सैर-सपाटे के लिये नारकण्डा आये हुये थे। उन के साथ बागी चलने का निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

मेरा नाम पूछकर उन्होंने जानना चाहा—मेरे खाने-वाने का क्या प्रबन्ध होगा ?

"जो हो जाये, बंगले का चौकीदार जो कर दे !"

"आप के नाम से यह नहीं जान सका कि आप क्रिश्चियन हैं या हिन्दू। खैर, मेरे लिये तो इस में कोई अन्तर नही पड़ता। आप के खाने का प्रबन्ध हमारे साथ हो जाय तो आप को सुविधा रहेगी लेकिन हम चारों मुसलमान हैं। मेरे दो साथी कट्टर मुसलमान हैं। वे 'झटका' नही खा सकते। झटके से अभिप्राय है एक ही चोट से गर्दन काट दिये गये जीव का मांस। हिन्दू अक्सर 'हलाल' यानि अढ़ाई हाथ छुरी चला और कलमा पढ़कर काटी गई गर्दन का मांस खाना धर्म विरुद्ध समझते हैं। खानसामा जान तो ईसाई है। वह दोनों चीजें बना सकता है।"

मुझ से यह आश्वासन पाकर कि मैं इन बातों को महत्व नही देता, उन के कट्टर साथी अपना नियम जैसे चाहे पूरा कर लें, परस्पर घर-बाहर और परिचय की बातचीत शुरू हुई। यह जानकर कि मेरा अपना निजी मकान और ज़मीन दुनिया में कहीं नहीं है, उन्होंने बताया—"मेरी हालत भी कुछ

बहुत भिन्न नहीं है । यों तो शिमले में छोटा-सा मकान है पर न होने जैसा। नाना मेरा भिश्ती था और बाप सेक्रेटेरियट में अर्दली । नाना की तरफ से हम लोग 'बाल्तिस्तानी' हैं अर्थात उस श्रेणी के कश्मीरी जो सड़कों पर पत्थर या शहतीरें ढोते हैं ।"

सज्जन ने मेरी आंखों में घूर कर कहा—"वह बात मुझे हमेशा याद रहती है जब मैं अपने लोगों को हैवानों की तरह बोझ ढोते देखता हूँ तो दिल चूर-चूर हो जाता है । ऐसे लोगों को अगर कहीं इन्सान बनने का मौका मिला है तो सिर्फ रूस के कम्युनिज्म में । कम्यूनिज़्म के बारे में मैंने बहुत कम पढ़ा है । मैं अक्सर 'पीपल्सएज' पढ़ता हूँ लेकिन सरकारी नौकरी जाने का डर है। कम्युनिस्टों का अखबार पढ़ने वालों पर सरकार को सन्देह रहता है । मैं इस राजनीति से बहुत परेशान हूँ। हम लोग अंग्रेज से आज़ादी ले ही नहीं पाते, हिन्दू-मुसलमान का हक़ देने या उसे आगे बढ़ने का अवसर देने के लिये तैयार नहीं और मि० जिन्ना ने मुल्क को बांटने की क्या बेहूदा सूझ निकाली है....."
हम लोगों में काफी बहस और मज़ाक रहा ।

यह मालूम होने पर कि वे केन्द्रीय सेक्रेटेरियेट में किसी डिपार्टमेण्ट में असिस्टेंट सुपरिन्टेडेंट हैं, उनकी आयु के विचार से कुछ विस्मय हुआ। उस विस्मय को भी भले आदमी ने तुरन्त दूर कर दिया—अव्वल तो नौकरो दिलाना साहब के हाथ की बात थी, इनके पिता चौबीस वर्ष उन्हीं के अर्दली रहे थे और फिर १९४६ में केन्द्र में कांग्रेस-लीग के सयुक्त मत्री-मंडल के जमाने में बड़ी धकापेल चल रही थी । इन्हों ने अपनी एक विशेष योग्यता यह बताई कि जिस लड़की से इनका विवाह हुआ है, वह 'वास्तव' में एक ऊंचे जिम्मेदार अफ़सर की लड़की है । वे अफसर उस लड़की के पितृत्व को खुलेआम स्वीकार नहीं कर सकते लेकिन अपनी सन्तान के सुख से रह सकने की चिन्ता उन्हें ज़रूर है इसलिये उस लड़की के पति को यानि मुझे नौकरी की सीढ़ी पर कुदा देने में उन्हों ने बहुत सहायता की ।

नारकण्डा में जो साथ मिला कुछ विचित्र खिचड़ी था । इनमें एक थे अलीगढ यूनिवर्सिटी के इस्लामी धर्मशास्त्र के अध्यापक । उम्र अधिक न होने पर भी पद की गम्भीरता या साम्प्रदायिक नियम के विचार से दाढ़ी रखे थे । मकान इनका; याद नहीं उन्हों ने कहीं यू० पी० के मिर्जापुर या जौनपुर के जिले में बताया था । घर के छोटे-मोटे जमीन्दार थे, स्वाभाव विनोदप्रिय ।

कभी मजाक में अपने धर्म-विश्वास पर भी फब्ती कस जाते लेकिन फिर जीभ काट कर तोबा कर लेते--ऐसा नहीं कहना चाहिये ?

तीसरे सज्जन थे--लगभग साठ वर्ष की आयु--दाढ़ी को बस्मे से रंगे, इस्लामिक मिशनरी (इस्लामी धर्म प्रचारक)। चौथा उनका जवान पुत्र जो पंजाब यूनिवर्सिटी से ताज़ा-ताज़ा बी० ए० पास कर कहीं क्लर्की आरम्भ कर रहा था; दाढ़ी मूँछ सफाचट।

अगले दिन सुबह ही हम लोग नाश्ता कर मि० जान के बनाये परौंठे और आलू की तरकारी वगैरा साथ बांध, बिस्तर कुलियों के सिर पर उठवा कर बागी की ओर चल दिये। चौदह मील पैदल, कड़ी उतराई-चढ़ाई का रास्ता था। मैं कई पहाड़ों में घूमा हूँ और कई सुन्दर जगहें देखी हैं। नारकण्डा से बागी का रास्ता भी बहुत रमणीक है। बागों में दिखाई देने वाले बहुत से विलायती फूलों के जंगली रूप रास्ते में देखे और इतनी मात्रा में कि विस्मय हुआ। अस्सी-अस्सी और सौ-सौ फुट ऊंची चट्टानें स्लेट की तरह बिलकुल साफ़, सीधी और बीच से ऐसे फटी हुई मानों किसी अमानुषी द्वार पर लटके पर्दों में अन्तर छोड़ दिया गया हो। रास्ता बीहड़ था इसलिये धीमे-धीमे चल रहे थे। बहस निरन्तर जारी रही।

कोई भी अवाक कर देने वाला दृश्य देखते ही शेख (सुविधा के लिये असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट को शेख ही पुकार लेते थे) मौलाना से पूछे बिना न मानते--"क्यों मौलाना, यह जलवा और खूबसूरती अल्लाताला ने इन्सान से छिपा कर क्यों रखी है ?" बढ़िया से बढ़िया इमारती लकड़ी के मीलों तक फैले जंगलों की ओर इशारा कर वे पूछते, "यह अल्लाताला ने क्या तमाशा किया है ? इस चीज़ का इस्तेमाल जहाँ हो सकता है, वहाँ यह नायब है और यहाँ सड़ रही है।"

पहाड़ी मजदूर प्राय: बालिस्तानी, बड़ी-बड़ी शहतीरों को पीठ पर लादे, दोहरे होकर चींटी की चाल से नारकंडा की ओर जा रहे थे। उनकी ओर देख हम मौलाना से पूछ बैठते--"खुदा हमें चाहता है या इन्हें ?"

मौलाना तो हंस कर टाल देते लेकिन बजुर्ग मिशनरी कुरान की कोई न कोई आयत सुनाकर जवाब देना शुरू कर देते कि जन्नत में खुदा उन्हें प्यार से गोद में बैठायेगा। बहस होने लगती--जन्नत में बैठायेगा ? क्यों; यहाँ क्या उस की अमलदारी नहीं है ? यहाँ वह इन पर क्यों जुल्म होने देता है ?

तंग आकर मौलाना ने जवाब दिया--"भाई सुनो ! इस्लामी धर्मशास्त्र पढ़ाना मेरा पेशा है। किस किताब में क्या लिखा है, यह बता सकता हूं। बाकी रही बात तर्क और युक्ति से सही-गलत जाँचने की ? तो भाई बुद्धि की कोई सीमा नहीं। मज़हब विश्वास पर चलता है। मैंने भी कुछ वर्ष पूर्व 'ओरिजिन आफ़ फैमिली' (परिवार के विकास का इतिहास) और 'डिवेलपमेंट आफ़ स्पीशिस' (जीव योनियों का विकास) के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान की पुस्तकें पढ़ी थीं। वे बातें मुझे तर्क संगत तो ज़रूर मालूम होती हैं परन्तु उस तर्क का मेरे धार्मिक-विश्वास से मेल नहीं हो सकता। मौलानागिरी हम लोगों का पैतृक काम है। मैंने इसे ही ठीक समझा। आप लोग विज्ञान और तर्क की बात करते हैं मैं उसका विरोध नहीं करूंगा लेकिन मेरा निर्वाह जिससे चलता है, उसे कैसे छोड़ दूं ? मेरे लिये एक ही रास्ता है, धर्म-विश्वास और विज्ञान को अलग-अलग रखा जाये।"

"मौलाना जो बात अक्ल से मेल नहीं खाती उसे पकड़े रहने में और जो बात अक्ल से जचती है उस से इनकार करने में कठिनाई और असुविधा तो जरूर होती होगी ?" मैंने पूछा।

"नही होती" मौलाना ने उत्तर दिया, "आपका मतलब खुदा में विश्वास से है न ? सुनिये, यू० पी० मे कांग्रेस मिनिस्ट्री बन गई है। हम जमीन्दारों को कांग्रेस मिनिस्ट्री से बड़ा खतरा है। यह लोग बार-बार 'जमीन्दारी उन्मूलन' का एलान कर रहे हैं। आप जानते हैं; यू० पी० मे कांग्रेस मिनिस्ट्री कायम होते ही हमने अपने तमाम असामियो का जो पुश्तों से हमारी जमीन जोत रहे थे, बुलाया। कुछ हिन्दू हैं कुछ मुसलमान।

"हमने असामियों से कहा--भाई, कांग्रस हम जमीन्दारों की जमीन छीन कर तुम लोगों को देना चाहती है। अल्लाह जानता है और तुम जानते हो कि यह जमीन हमारी है। अल्लाह के इसाफ मे यह जमीन हमारी है। फर्ज करो, कांग्रेस सरकार यह जमीन हम से छीन कर तुम्हें दे दे तो यह इस दुनियां की वक्ती सल्तनत का हुक्म है लेकिन मत भूलो, एक दिन मरना है ! खुदा के सामने जाओगे। खुदा पूछेगा कि तुमने पराई जमीन क्यों कबूल की ? चोरी और डकैती का माल लेना भी तो जुर्म है ! तो क्या जवाब दोगे ? अगर तुम खुदा के सामने गुनाहगार नहीं बनना चाहते तो तुम लोग लिख कर दे दो कि इस जमीन पर तुम्हारे कोई पुश्तैनी या मौरूसी हक़ नहीं। जनाब, सब ने लिख

कर दे दिया ! अब बताइये, हमें खुदा की ज़रूरत है या नहीं ?"

मौलाना ने याद दिलाया—वाल्तेयर कितना बड़ा क्रान्तिकारी था। उसने भी लिखा है—"समाज के निज़ाम के लिये खुदा का वजूद बहुत ज़रूरी है। खुदा अगर नहीं भी है तो बना लेना चाहिये।"

"सही है" मैंने मंज़ूर किया, "लेकिन खुदा तो उसकी सी ही कहेगा जो खुदा को बनायेगा ?" शेख ने मेरी बात का समर्थन किया।

मौलाना बोले—"वाह साहब, खुदा को तो कोई नहीं बना सकता। वह अज़ली (अनादि-अनन्त) है, वही सब को बनाता है।" और बज़ुर्ग मिशनरी की ओर कनखियों से देख कर मुस्करा दिये।

बज़ुर्ग मिशनरी को मौलाना की बात से सन्तोष नहीं हुआ। वे कुरान की आयत का उद्धरण देकर खुदा की तारीफ़ करने लगे। यह स्पष्ट था कि मौलाना को खुदा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये कोई आग्रह नहीं था और यदि बज़ुर्ग साथ न होते तो शायद वे और ही तरह की बातें करते।

बज़ुर्ग मिशनरी में इस्लाम के वैतनिक धर्म-प्रचारक की दरिद्रता नहीं थी। पोशाक से भी काफ़ी अपटूडेट यानि कोट-पतलून, स्वेटर, टाई से दुरुस्त सिर पर भी मौलवियों का सा इमामा नहीं, ज़रीदार कुल्ला और पठानी रेशमी लुंगी थी।

मैंने उनसे अपना कौतुहल प्रकट किया—"किब्ला, आप किस महकमे में रहे हैं।"

"यह न पूछिये" दरद भरे स्वर में वे बोले, "बड़े गुनाह किये हैं इस हरामज़ादी अंग्रेजी सल्तनत की नौकरी में...."

वे कई बरस अंग्रेज साम्राज्यशाही की नौकरी में अरब में रहे थे। बचपन में ही मज़हबी खयाल से अरबी पढ़ी थी। अरबी बोलने का अभ्यास अच्छा था। इनका काम था, अरब के शहरों 'हिजाज़' 'नज्द' और 'यमन' आदि में छोटे-मोटे कारोबार के बहाने घूम-फिर कर अच्छी हैसियत और प्रभावशाली खान्दानों के अरबों से मेल-मुलाकात बढ़ाना और उनके परिवारों तथा सम्बन्धों की सब खबरें अंग्रेज एजंट को देते रहना।

पूछा—"इस तरह की सूचनाओं का अंग्रेज क्या उपयोग करते थे ?"

पश्चाताप से गहरी सांस लेकर वे बोले—"उन नादान गरीबों के राजनैतिक मामलों में प्रभाव डालना, उन्हें एक दूसरे से लड़ाते रहना, उन्हें अपनी स्वतंत्रता के लिये अंग्रेजों के विरुद्ध आपस में संगठित न होने देना।"

बजुर्ग के मन में इस बात का बहुत खेद था कि उन्हों ने पेट के लिये आयु भर स्वधर्मियों के विरुद्ध विधर्मियों की सहायता की। अब इस कमाई से जायदाद खड़ी कर और बेटे को शिक्षा दिला, नौकरी पर जमाकर उन्हों ने अपना शेष जीवन अपने धर्म की सेवा में अर्पण करना निश्चय कर लिया था। इस कारण उनकी कट्टरता भी बढ़ गई थी।

सड़क पर उतार-चढ़ाव बहुत थे। सांस फूल जाने के कारण बार-बार दम लेने के लिये रुक जाना पड़ता था। बात कर रहे थे--अब तो यह अच्छी खासी सड़क बनी है। जब सड़क न रही होगी, व्यापार के लिए पगडण्डी से रामपुर-बुशैर जाने वाले कैसी कठिनाई भुगतते होंगे?

नारकण्डा में बातचीत के दौरान में मालूम हुआ था कि एक जमाने में इस रास्ते सम्राट शाहजहां की शाहज़ादी सैर के लिये आई थी। तभी यहाँ पहले-पहल सड़क बनी थी। इस समय यह सड़क लगभग पांच-छ: फुट चौड़ी है लेकिन पहले डेढ़ दो फुट ही थी। हम लोग कल्पना करते जा रहे थे कि शाहजादी इन कठिन चढ़ाइयों-उतराइयों पर कैसे गुज़री होगी? कठिनता शाहजादी को नहीं, शाहजादी की पालकी ढोने वाले कहारों को ही हुई होगी। शाहज़ादी की पालकी भी उसके पद और सम्मान के अनुसार काफ़ी भारी रही होगी। इस रास्ते पर जहाँ हम लोगों के लिये अपना शरीर लेकर चलना ही कठिन हो रहा है, चार कहार पालकी को कितनी दूर ले जा सकते होंगे? कुछ-कुछ दूरी पर कहार बदलने के लिये कितने कहारों का दल पालकी के साथ चलता होगा? इसके अलावा खेमे-तम्बुओं का फर्राशखाना, बावर्चीखाना, हमाम और उनकी रक्षा के लिये भी सेना की एक टुकड़ी और संध्या समय उनकी थकावट और उदासी दूर करने के लिये शायद कुछ स्त्री गायिकाएं और क़िस्सागो भी रहते होंगे। उस समय यदि एक आदमी सुख से रहना चाहता तो उसे कितने व्यक्तियों की सेवा की आवश्यकता थी? उस काल में हम लोगों की हैसियत के व्यक्तियों के लिये इस प्रकार के सैर-सपाटे की कल्पना कौन कर सकता था? हाँ, फक़ीरी में माँगते-खाते चाहे जहाँ पहुँच जाते।

बागी रियासत रामपुर-बुशैर के अन्तर्गत बहुत ही रमणीक जगह है। पहाड़ के कंधे पर कुछ समतल बस्ती है। बस्ती क्या, एक पड़ाव है, तीन चार दुकानें, आठ दस घर। रामपुर तीस-चालीस मील आगे है? सब नीचे और छोटे मकानों में एक काफ़ी बड़ा मकान दिखाई दिया। बताया गया कि यह

मौलाना और किब्ला थक कर लेट गये थे। हम लोग घण्टे भर बाद फिर ताज़गी अनुभव करने लगे। पहाड़ों में थकावट बहुत ज्यादा मालूम होती है लेकिन वायु में ओषजन (आक्सीजन) की मात्रा अधिक होने से ताज़गी और स्फूर्ति भी शीघ्र ही आ जाती है। शेख, किब्ला के पुत्र और मैं बाज़ार--यानि दुकानों की ओर चले। स्थानीय प्राकृतिक सौन्दर्य तो पर्याप्त देख रहे थे, चाहते थे कि स्थानीय लोगों के जीवन का ढंग भी कुछ मालूम हो। यह प्रदेश नाच-गाने और दूसरे विचित्र व्यवहारों और स्वच्छन्दता के लिये काफी प्रसिद्ध है। बोली यहाँ की कागड़े की पहाड़ी से कुछ मिलती-जुलती है। मैं बोल न पाने पर भी समझ रहा था। वैसे ही, यहाँ के लोग हिन्दुस्तानी समझ तो लेते हैं परन्तु बोल नहीं पाते।

एक दुकान पर जाकर बैठे। शेख ने आत्मीयता बढ़ाने के लिये बातचीत शुरू की और स्पष्टवादिता में कह गये--"तुम लोग तो बहुत खुश-मिजाज़ हो। तुम लोगों के यहाँ तो नाच-गाना बहुत होता है। स्त्री-पुरुष मिलकर गाते-नाचते हो न ? हम लोग इतनी दूर से यहाँ की तारीफ़ सुन कर आये हैं। कुछ नाच-गाना दिखाओ न ?"

दुकानदार आवेश में आ गया। पास बैठे स्थानीय लोगों को सम्बोधन कर अपनी बोली में गाली देकर बोला--"दो-चार लाठियाँ-लकड़ियाँ तुम लोग उठा लाओ तो इन····बदमाशों को नाच-गाना दिखायें ?" और टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी बोल कर क्रोध में उत्तर दिया, "तुम अपनी बहन-बीबी को लाकर हमारे सामने नचाओ ?"

परिस्थिति बिगड़ती देख कर मैंने कांगड़े की पहाड़ी में उसे विश्वास दिलाया--"यह आदमी बुरा नहीं है। ज़रा सीधा है नाराज़ होने की बात नहीं है। इन लोगों के मुल्क में ऐसा ही होता है। तुम नाच-गाने की बात जाने दो कोई जरूरत नहीं।"

मुझे देश के साहब लोगों जैसे कपड़े पहने और पहाड़ी बोलते देख कर उसे कुछ विस्मय हुआ परन्तु विश्वास योग्य समझ कर बोला--"तुम इन्हें सीधा बताते हो ? ये देश के पंजाबी बड़े बदमाश होते हैं। यहाँ बदमाशी के इरादे से ही आते हैं। अपनी औरतों को परदे में रखते हैं। अपने आपको बड़ा इज्जतदार समझते हैं। ये लोग आते ही औरतें भगाने के लिये हैं !"

जैसे-तैसे बात टाली और लौट आये। स्थानीय लोगों के व्यवहार का

इतना परिचय पाकर प्राकृतिक सौन्दर्य ही देखते रहे। डाकबंगले के समीप ही छोटी सी टेकरी पर चढ़ने से यमुना नदी दिखाई दी। यमुना के उस पार गढ़वाल अर्थात युक्तप्रान्त आरम्भ हो जाता है। बागी से अन्तर केवल आठ-दस मील ही था।

अगले दिन नारकण्डा लौटते समय 'हाटू टिब्बा' होकर चलने का निश्चय किया। कुली हमारे बिस्तर लेकर सीधे नारकण्डा चले गये थे। हाटू की चोटी पर सड़क नहीं, पगडण्डी ही जाती है। जंगल बहुत घने हैं। इतने घने कि पग-डण्डी पर से शाखों को दोनों हाथों से हटा कर चलना पड़ता था। पत्ते इतने कर्रे कि हाथों और चेहरे को छील डालते थे। एक पथ-दर्शक साथ ले लिया था। इस आदमी से जिज्ञासा की--"क्यों भाई, तुम लोगों के यहां नाच-गाना नहीं होता ?"

"क्यों नहीं होता साहब ? खूब होता है। हम खूब गाना जानते हैं, नाचते भी है।"

"हम लोगों को तो कहीं देखने को नहीं मिला ?"

"आप लोगों ने कहा होता। बस दो बोतल शराब मंगा देते, रात भर का जमाव हो जाता। आग जला लेते बीच में और खूब मजा होता रहता।" उसने उत्तर दिया।

अब मौका निकल चुका था। उस दुकानदार और इस आदमी में यह अन्तर इसलिये था कि दुकानदार राजपूत या ब्राह्मण रहा होगा और वह देश के लोगों की नैतिकता और व्यवहार, पर्दानशीनी वगैरा के बारे में भी कुछ-कुछ जानता था। उसी ज्ञान के आधार पर उसने सम्मान की एक धारणा बना ली थी। यह आदमी साधारण किसान था।

शिमले के अन्तरवर्ती प्रान्तों, कांगड़ा, कुल्लू चम्बा, के प्रदेशों और अलमोड़ा गढ़वाल की उत्तरी सीमा पर भी समाज-सुधार का एक आन्दोलन चल रहा है। इस समाज-सुधार का आदर्श है शहरों के सम्मानित समझे जाने वाले लोगों के व्यवहार की नक़ल करना। स्वच्छन्दता से गाना-नाचना असभ्यता है इसलिये उन प्रदेशों की स्वाभाविकता और स्वच्छन्दता प्रायः मिटती जा रही है। यह बात मैंने कुल्लू में दसहरे के मेले में अनुभव की और अलमोड़ा में भी सुनी।

कुछ वर्ष पूर्व तक अल्मोड़ा जिले के बागेश्वर के मेले में यह स्वच्छन्दता

काफी मात्रा में दिखाई देती थी। पहाड़ी लोग बरस भर में एक ऐसा अवसर आने पर बड़े उत्साह से उस में भाग लेते थे। समाज सुधारकों के समझाने से अब वे लोग ऐसा नहीं करते। करते हैं तो अलग; 'नागरी लोगों' (देश के सभ्य समझे जाने वाले) से छिपा कर। अंग्रेजों को भारत मे 'बालडांस' करते समय कोई झिझक या संकोच अनुभव नही होता था क्योंकि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि वे हिन्दुस्तानियों से अधिक सभ्य हैं।

बीस-पच्चीस वर्ष पहले तक भारतीय समाज में नाच-गान सामाजिक उत्सवों के समय अनिवार्य अंग समझे जाते थे। नाच-गान सर्वसाधारण के जीवन की सामान्य वस्तु नहीं थी। यह काम कुछ लोगों का पेशा ही बन गया था। यही पेशेवर लोग इस सामाजिक आवश्यकता को पूरा करते रहते थे। ब्याह-शादी, जनेऊ, मुन्डन, नामकरण और त्यौहार 'बाई जी' के नाच और 'भाण्ड' की नक़लों के बिना पूरे नहीं होते थे। बाई जी का नाम ही 'मंगलामुखी' था। प्रत्येक मंगल अवसर पर उनके मुख के दर्शन होते थे। वे आनन्द और उत्सव की प्रतीक थीं। एक-दो वेश्याओं को स्थायी रूप से पाले रखना तब सम्मान और खान्दानियत की पहचान मानी जाती थी। सभी बातों की तरह इस बात के बुरे पहलू भी थे ही परन्तु यह समाज की कला और संस्कृति का अंग भी ज़रूर था। बाईजी की संस्था के बुरे पहलू तो आवरण और स्थान बदल कर अब भी मौजूद हैं। कला पक्ष अलबत्ता समाप्त हो रहा है।

ईसाई संस्कृति से प्रभावित ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने नाच-गाने को अनाचार और व्यभिचार का स्रोत समझ कर इसके विरुद्ध बहुत प्रचार किया है। कई दूसरे आर्थिक कारणों के भी प्रभावों से यह प्रथा सुशिक्षित समाज में लगभग समाप्त ही हो गई है। अब केवल निम्नवर्ग के विवाह संस्कारों में ही, या देहात में कभी कोई 'रंडी' या 'बेड़नी' नाचती दिखाई दे सकती है। शहरों का सभ्य समाज तो सिनेमा के पर्दे पर नर्तकी का नृत्य देख कर अपना चाव पूरा कर लेता है। संस्कृति के बहुत ऊंचे स्तर के और आधुनिक कहलाने वाले लोग संगीत और नृत्य को फिर अपनाने लगे हैं। उन की सुपुत्रियों के लिये संगीत और नृत्य सीखना आवश्यक समझा जाने लगा है। उनके लिये अवसर भी है परन्तु सर्वसाधारण लोग खाली हाथ रह गये हैं। संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र नगरों में जब संगीत और नृत्य को अपनाया जाने लगा है तो नगरों में बीस वर्ष पुरानी पड़ गई नैतिकता और आचार की भावना सरकती-सरकती

यातायात के साधनों से हीन सुदूर पहाड़ी प्रदेशों में पहुँच रही है। वे नृत्य-संगीत को उच्छृङ्खलता और अनाचार समझ कर इसमें अपमान समझने लगे हैं।

ज्यों-ज्यों चढ़ाई पर हाट् की ओर चढ़ते जा रहे थे, वृक्षों का आकार छोटा होता जा रहा था। वे हमारे कन्धों से भी नीचे रह गये। कुछ आगे केवल कमर तक कांटेदार झाड़ियाँ मिलीं। और ऊंचे जाने पर घटनों तक ही। इनमें कांटे भी नहीं थे। फूलों की फसलें-सी खड़ी जान पड़ती थीं। एक-एक जगह एक-एक रंग के फूलों का रूप प्रायः तिल के फूल से मिलता-जुलता था। ऊंचाई अधिक हो जाने पर सांस भी बहुत अधिक फूल रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि अब आगे न चढ़ा जा सकेगा। कुछ ही कदम पर दम फूल जाता था। ऐसी जगह चलने का तरीका है, बहुत धीमे-धीमे चलना। समुद्र तल से लगभग ११००० फुट की ऊंचाई पर एक पहाड़ी की रीढ़-रीढ़ चले जा रहे थे। पथ-दर्शक ने बताया कि वर्षा की जो बूंदें इस पहाड के दाहिनी बगल पड़ती हैं वे सतलुज नदी में जाती हैं और जो बाईं ओर पड़ती हैं, यमुना में।

उन दिनों अभी पाकिस्तान-हिन्दूस्तान के बंटवारे का चर्चा ही चल रहा था। कांग्रेस ने बंटवारे को अभी तक स्वीकार नहीं किया था। उस समय साधारणतः यह धारणा थी कि पूरा पंजाब ही पाकिस्तान बन जायेगा। सांस लेने के लिये रुक कर किब्ला ने फर्माया—"पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की सरहदें इसी जगह होगीं!"

मैंने पथदर्शक से पूछा—"यहाँ गावों में मुसलमान तो काफी होंगे।"

"नहीं, हम लोगों में यहाँ कोई मुसलमान नहीं है। कभी-कभी घोड़े-खच्चर को नाल लगाने वाला मुसलमान नारकण्डा से आता है।" किब्ला ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया।

शेख ने मुस्कराकर कहा—"दोनों मुल्कों के झण्डे इस जगह लगेंगे और इस बात पर झगड़ा होगा कि एक से उंचा झण्डा दूसरे का न हो!" जैसे आज हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में दो राष्ट्रों के युद्ध की सी बातें चल रही हैं, तब कल्पना भी न थी और न आबादी के अदल-बदल की ही बात थी। शेख ने किब्ला और मौलाना से प्रश्न किया, "कांग्रेस के झण्ड पर तो काठ का चर्खा है, हमारे पाकिस्तानी झण्डे पर क्या निशान होना चाहिए!"

'हिलाल' (दूज के चन्द्रमा) का निशान मुसलमानों का निशान है ही।" उत्तर मिला।

"वाह साहब, मुसलमानों के निशान का सवाल है या पाकिस्तान के निशान का सवाल ? क्या ईरान और टर्की का एक झण्डा हो सकता है ? 'हिलाल' तो टर्की का निशान है। हमारे पाकिस्तान के झण्डे पर बदने (टोंटी-दार मुसलमानी लोटे) का निशान होना चाहिए क्योंकि हिन्दू उससे डरता है। आप लोग तो" शेख ने मुझे सम्बोधन किया, "शायद गौ माता का निशान बनायेंगे ?"

"नहीं," उत्तर दिया, "बहुत सम्भव है, स्वस्तिक का निशान बना दिया जाये।"

"वाह साहब, वह तो हिटलर का निशान था। खैर, हिटलर तो मर गया बेचारा, अब कोई एतराज करने वाला नहीं।"

हाटू की उँचाई समुद्र तल से १२००० फुट बताई जाती है। आगे चढ़ाई पर कुछ ही गज चल लेने से साँस फूल जाती और कुछ ही मिनिट में फिर ताजगी जान पड़ने लगती। आकाश स्वच्छ था। धूप में आँखें चौंधियाई जा रही थीं और हवा के झोकों से सर्दी लगती थी। सब ओर दूर-दूर का प्रदेश, सतलुज और यमुना की धारायें स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। उत्तर में दूर-दूर तक फैली बरफानी दीवारें। पथदर्शक हाथ के संकेत से बता रहा था—"वह सामने पंजाब के मैदान हैं, अम्बाला शहर !"

लुढ़कते-पुढ़कते नारकण्डा लौटे और थकावट से लेट गये। अगले दिन सुबह ही शेख अपने साथियों सहित शिमला लौट गये। मैं अकेला रह गया। सोचा, एक दिन अकेले भी सही। सर्दी खासी थी लेकिन बरामदे में खूब धूप आने के कारण आराम कुर्सी पर पसरा हुआ 'यान' का ऐतिहासिक उपन्यास 'बाटूखाँ' पढ़ता रहा। कभी मनुष्य-समाज के तत्कालीन रंग-ढंग की बात सोचने के लिए पुस्तक बन्द भी कर लेता लेकिन इस चिन्तन से अधिक पुस्तक की ओर से ध्यान हट जाता था, बड़े सुरीले स्वर में फिल्मी गानों की हू-बहू तर्जों को उस जगह सुन कर।

गाने की यह आवाज पहले ही दिन दोपहर बाद नारकण्डा पहुँचने के समय से ही बार-बार सुनाई पड़ रही थी। उर्दू-हिन्दी के तरानों का इतना स्पष्ट उच्चारण और उन तर्जों को उतना सही-सही सुन पाना, भिन्न बोली के इस पहाड़ी प्रान्त में कुछ विचित्र सा लगा। पहले अनुमान हुआ कि कोई बहुत अच्छा ग्रामोफोन है लेकिन ग्रामोफोन का स्वर चाहे जितना मीठा हो, उसमें

धातु की झनकार की कुछ न कुछ खटक रहती ही है। रिकार्ड का समय दो अढ़ाई मिनिट से कम ज्यादा भी नहीं हो सकता। शेख ने इस गाने वाली का परिचय करा दिया था।

यह गीत गाने वाली थी, खानसामा मि० जान की बेटी, 'बेबी !' बेबी को देख कर विस्मय और बढ़ा। लगभग सात बरस की लड़की। चीथड़ों में लिपटी हुई। बहुत गोरा रंग, फूले-फूले गाल, छोटी सी बहती हुई नाक; जिसे बेबी हथेली की पीठ से पोंछ कर अपने चीथड़ों पर साफ कर लेती थी। बेबी को अपने सामने गाने के लिये कहा तो जरा झेंपी लेकिन फिर गाने लगी।

"तुम छोड़ गये बालम मेरा प्यार भरा दिल है।"

आवाज में कुछ कच्चापन होने पर भी वह इतनी गहराई से स्वर को साध कर गाती थी कि विस्मय होता था। उसे आठ-दस गाने पूरे याद थे। मुझे किसी गीत की कोई एक पूरी कड़ी भी याद नहीं रहती।

बेबी ने कभी सिनेमा नहीं देखा था। उसे कभी गाना सिखाया नहीं गया था। उस सूनी जगह में तफरीह के लिए आने वाले लोग प्रायः ग्रामोफोन और डिब्बों में बन्द गाना साथ ले जाते हैं। उन्हीं रिकार्डों को सुन-सुन कर बेबी ने वह शिक्षा पायी थी। ग्रामोफोन द्वारा पाई उस लड़की की शिक्षा को देख मैं सोच रहा था कि ग्रामोफोन और सिनेमा का प्रयोग यदि सार्वजनिक शिक्षा के प्रयोजन से किया जाय तो वे कितने अच्छे, चलते-फिरते स्कूल बन सकते हैं। बेबी अपनी उस प्रतिभा का उपयोग केवल भीख माँगना सीखने में कर रही थी। बंगले में आकर ठहरने वाले बाबू और साहब लोग उससे गाना सुन कर उसे दो पैसे-इकन्नी दे देते थे। वह दौड़ कर समीप की दुकान से गुड़ खा लेती थी या कोई और गन्दी मिठाई और फिर गाने के लिये तैयार।

× × ×

नारकण्डा के डाकबँगले में प्रातः जल्दी ही नाश्ता कर लूरी के लिये चला। भूल यह की थी कि आराम से सफर कर सकने के ख्याल से अच्छा बड़ा बिस्तर और बक्सा साथ ले लिया था। अब यह चीजें मुसीबत बन रही थीं। पहाड़ों में सफर तो राहुल जी के ढंग से ही करना चाहिये। उन्हें एक बार अल्मोड़ा से लौटते समय भुवाली में देखा था। उन के साथ सामान इतना था

कि ज़रूरत पड़ने पर स्वयं ही लेकर चल दें। मुझे दो कुली करने पड़े। कुली या खच्चर मिलना बहुत कठिन हो रहा था। आलू की फसल की खुदाई के दिन थे। इन स्थानों में आलू ही मुख्य पैदावार है। लाखों मन आलू यहाँ से शिमले के रास्ते हिन्दुस्तान भर में जाता है। यह समय इन लोगों की अपनी वर्ष भर की मेहनत बटोरने का था।

लूरी को सड़क 'कुमारसेन' होकर जाती है। कुमारसेन हिमांचल प्रदेश की एक रियासत है। यों तो नारकण्डा का डाकबंगला भी कुमारसेन रियासत के अन्तर्गत ही है। रियासत के शासन-कार्य का दफ्तर, पुलिस, सेना और कर-विभाग सब दो-तीन कमरे के एक मकान में हैं। कुमारसेन की पूरी बस्ती का मलबा वहाँ के राजा साहब के महल के बराबर ही या कुछ कम होगा। राजा साहब का महल अच्छे बड़े थाने के आकार का था।

यहाँ डाकबंगला, धर्मशाला कुछ नहीं, होटल की तो कल्पना ही क्या। मुसाफिर ठहरते भी कम ही हैं क्योंकि नारकण्डा से केवल सात-आठ और लूरी से पाँच मील का ही अन्तर है लेकिन बहुत ही तिर्छी उतराई पर मैं इतना थक गया, शरीर का सब रक्त जांघों और पिंडलियों में ही उतर आया था। विश्राम आवश्यक था; भूख भी लग रही थी। यह भी इच्छा थी कि आगे के लिये सवारी कर लूं।

रियासत के दीवान, मैनेजर या तहसीलदार जो कुछ मान लीजिये, एक पंजाबी सज्जन थे। उन्हीं के यहाँ पहुँचा। यह जानकर कि मैं लेखक हूँ और पंजाबी; उन्होंने सहृदयता से ठहरने के लिये एक कमरा और पलंग दे दिया। अपने 'राज्य' की व्यवस्था दिखाने के लिये भी तत्परता प्रकट की। उस रोज़ रियासत के शस्त्रागार की सफाई हो रही थी। पुराने ढंग की तोड़ेदार छः बन्दूकों को झाड़-पोंछ कर उन में तेल लगाया जा रहा था। पुलिस या सेना के यही हथियार थे। राजा साहब और दीवान साहब के अपने निजी बन्दूक-पिस्तौल अलग होंगे ही।

एक कमरे में प्राइमरी स्कूल भी देखा। पन्द्रह-बीस बच्चे थे। दीवान साहब ने एक खास बात रियासत के सम्बन्ध में बताई; वहाँ न तो आबकारी का महकमा था और न शराब बनाने या बेचने की इजाज़त, न उस की रोक-थाम का कोई प्रबन्ध। हिमांचल प्रदेश में ऐसी अनेक रियासतें हैं जिन की आय उ० प्र० की किसी अच्छी ज़मीन्दारी से कहीं कम है। इन रियासतों के

लिये एक न्यायालय तक कायम करना सम्भव नहीं रहा इसलिये सब रियासतों को मिलाकर शिमले में एक हाईकोर्ट बना दिया गया था जिस का खर्च या आमदनी ऐसी सब रियासतों की साझी होती थी। फिर भी इन रियासतों का अलग-अलग अस्तित्व अंग्रेज़ बहादुर ने कायम रखा था।

दीवान साहब ने बहुत अच्छा पंजाबी ढंग का भोजन, बिना मेरे कोई संकेत दिये, समय पर भिजवा दिया लेकिन मेरे अनुरोध करने पर और मुंह-माँगा किराया देने के लिये तैयार होने पर भी कोई खच्चर या घोड़ा रियासत में न मिल सका।

संध्या तक लूरी पहुँच गया। वास्तव में पहाड़ तो लूरी ही है। डाक-बंगले में ठहरने से सर्वसाधारण का सम्पर्क नहीं रहता। यहाँ डाकबंगला और कुछ दुकानें पास-पास थीं। मैं एक दुकान पर ठहर गया। दुकान के शाह जो (खत्री) बड़े ज़िन्दा दिल थे। अभी चार दिन पहले उस रास्ते गवर्नर कुल्लू गया था और फिर जाड़ों में डाक कैसे आती-जाती है, राजपूत को फ़ौज में नौकरी मिल जाये तो कैसे ऐंठ जाता है, यह सब किस्से सुनाते रहे।

नारकण्डा से आये कुली आगे जाने के लिये तैयार नहीं थे। नारकण्डा की ऊँचाई समुद्रतल से ९३०० फुट है और लूरी की केवल २००० फ़ुट। तेरह मील में इतनी अधिक तिर्छी उतराई से शरीर का बुरा हाल हो गया था। आगे 'खनाग' की कड़ी चढ़ाई की भी बहुत बातें सुनी थीं। खच्चर-घोड़ा यहाँ भी मिल नहीं रहा था। आगे 'बंजार' तक कोई सवारी मिल सकने की सम्भावना भी नहीं थी। जब मैं 'बंजार' तक, लगभग २५-२६ मील के लिये तीस रुपये देने के लिये तैयार हो गया तो शाह जी ने एक खच्चर और घोड़ा पैदा कर देने की जिम्मेवारी ले ली। शाह जी से मज़ाक़ में पूछा—"कहिये अब कैसे जानवर पैदा हो जायगा ?"

शाह जी झेंपे नहीं, उत्तर दिया—"बाबू क़ीमत देने पर तो धर्म-ईमान और आदमी का सिर भी खरीदा जा सकता है। तुम हमारे घोड़े-खच्चर को किराये पर ले सकते हो, किसी ने तुम्हें किराये पर ले रखा होगा।" वे मुझे शायद सरकारी अफसर समझे हुए थे; जो भी हो उन का उत्तर अच्छा लगा।

नारकण्डा से नीचे आकर लूरी में बहुत गर्मी जान पड़ रही थी परन्तु जगह सुन्दर है। यहाँ दो पहाड़ों के बीच से बहती सतलज की अत्यन्त वेगवान धार पर मज़बूत पुल है। नदी का जैसा वेग है उस पर पुल बनाना आसान

नहीं। दोनों ओर के पहाड़ों के बीच अन्तर कम है। पहाड़ी चट्टानों को ही पुल की दीवारें बना लिया गया है। उन पर लोहे के भारी शहतीर डाल दिये गये हैं। आकाश में चाँद खूब उज्ज्वल था। नीचे चट्टानों से टकराती सतलज से फेन के फव्वारे उछल रहे थे। चाँदनी भरे कुहासे में नदी के दोनों ओर अस्पष्ट बहुत ऊँचे पहाड़। गरमी मालूम होने के कारण सड़क पर ही खाट डालकर रात काटी। बक्सा खाट के नीचे पड़ा रहा। चोरी की कोई आशंका उस समय तक वहाँ नहीं थी। अब रामराज्य में क्या हाल है, कह नहीं सकता। पाँच वर्ष पूर्व तक अल्मोड़ा के पहाड़ों में भी चोरी नहीं होती थी लेकिन अब रामराज्य के आर्थिक संकट के कारण चोरियाँ वहाँ खूब हो रही हैं। इस साल एकाध डकैती भी हो गई है।

लूरी से सड़क सतलज के किनारे-किनारे चली तो तीन मील प्रायः समतल ही था। नदी भी समतल भूमि में खूब चौड़ी होकर शान्ति से बह रही थी। चढ़ाई शुरू हुई तो मजे-मजे की। दोनों ओर बिना वृक्षों की, घास से ढँकी पहाडियाँ। कुछ दूरी पर आगे एक विचित्र पुल देखा। यहाँ नदी अपेक्षाकृत शांत होने पर भी पक्का पुल नहीं बन सकता। यह पुल था, नदी के दोनों किनारे खम्बे गाड़कर बीच में एक मजबूत, शायद लोहे के तारों का रस्सा कस दिया गया है। इस रस्से से एक चर्खी पर खटोली लटका दी गई है। दोनों ओर खम्बों पर भी चर्खियाँ हैं। डोली में बँधी रस्सियाँ दोनों किनारों के खम्बों की चर्खियों पर से उलट कर फिर खटोली में बँधी हैं। पार जाने वाला आदमी खम्बे पर चढ़कर खटोली में बैठ जाता है और दूसरे किनारे के खम्बे से लौटो हुई रस्सी को खींचने लगता। खटोली दूसरे किनारे की ओर चल देती है। नीचे नदी शांत परन्तु काफी तीव्र प्रवाह से बह रही थी। नदी पार करने का यह ढंग काफी विपदजनक जान पड़ा। एक आदमी मेरे ही सामने फुर्ती से पार चला जा रहा था। अपने साथ के खच्चर वाले फकीरू से जिज्ञासा की—"इस में तो बड़ा भय है ?"

"इस में क्या भय है मालिक, ऊपर लोहे का रस्सा है। चर्खी पर से आती रस्सी को खींचते जाइये, जैसे आप लोगों के देश में कुएँ से पानी भरते हैं। गहरे कुएँ के किनारे खड़े होकर पानी खींचने में भी तो डर लगता होगा ?"

सोचने पर समझा, भय की बात तो कुछ नहीं है केवल झिझक की बात है। अजानी चीज से प्रायः ही भय लगता है। उसे करने वाले बड़े साहसी

जान पड़ते हैं। तत्त्व, यह जान लेने में है कि वास्तविक भय का कारण है या नहीं।

दोपहर तक १३ मील चलकर 'अणी' पहुँच गये। यहाँ भी एक स्कूल, शायद मिडिल स्कूल दिखाई दिया। यहाँ दो दुकानें हैं। जगह सुहावनी है। 'खनाग' आगे केवल पाँच मील ही था। सोचा, वहीं चलकर ठहरेंगे। शिमला से झोले में साथ लाये कुछ बिस्कुट खाकर चाय पी ली। अणी से सतलज का साथ छूट गया और उस के एक सहायक नाले के साथ-साथ चले। सतलज के तो बहाव की ओर चल रहे थे परन्तु नाले के उद्गम (निकास) की ओर चले। कड़ी चढ़ाई शुरू हो गई। प्रत्येक कदम जो आगे रखते, ऊँचाई पर होता। नाला ऊँचाई से आने के कारण बड़े वेग से आ रहा है परन्तु सड़क और भी तिर्छी ऊँची चढ़ी है और नाले के तल से ऊँची उठती जाती है। ऊँचाई से देखने से नीचे नाले का प्रवाह और ऊपर पहुँचने वाली गूंज भयावनी जान पड़ते हैं। पहले चीड़ों के जंगल आरम्भ हुये। एक ओर नाले की गहरी खड्ड दूसरी ओर चीड़ों से छाये खूब ऊँचे घाटे; चितकबरी छाल से ढंके ऊँचे-ऊँचे तने और बल खाती टहनियों से डोरों जैसी महीन पत्तियों के गुच्छे हल्की-हल्की हवा में चँवरों की तरह डोल रहे थे।

चीड़ के बाद करें पत्ते के बांझ के जंगल और देवदार और कैल के जंगल आने लगे। नाला सड़क के साथ-साथ, भयंकर ऊँचे पहाड़ों की बीच की फाँक में से उद्दाम वेग से बहता चला जा रहा है। पहाड़ों के बीच की किसी फांक की कगार पर से सड़क चट्टानों की बनावट के अनुसार बलखाती चली जाती है। ज्यों-ज्यों ऊंचाई बढ़ती है, हरियावल घनी होती जाती है। घाटों पर जंगली फूल-पौदे, झाड़ियाँ और दोहरे दांतेदार लम्बे पत्ते के 'फर्न' की किस्म के पौदे इतने घने थे कि पत्थर और चट्टानें कम ही दिखाई देते थे। जान पड़ता था, हरियावल के ही पहाड़ हैं, उन्हीं में से प्रकांड वृक्ष उग आये हैं। पत्थर और चट्टान कहीं-कहीं भूल से रह गये हैं; कहीं नज़र आजाने पर भले और सुहावने ही लगते हैं।

हम ज्यों-ज्यों ऊपर जा रहे थे, नाले की फांक की गहराई बढ़ती जा रही थी। कहीं-कहीं नीचे आदमी भी दिखाई दे जाते थे। यह नाले में लकड़ी बहाने वाले लोग थे। इनका काम बड़ी चतुराई और खतरे का है। नाले में जहाँ कहीं बहाव कम होने या चट्टान सामने आजाने के कारण ऊपर से बहाये गये शहतीर रुक जाते हैं, यह लोग बहाव में से कुछ पत्थर हटा कर या उनकी

स्थिति बदल कर शहतीरों के लिये बहाव का रास्ता साफ़ कर देते हैं। शहतीर चट्टानों से टकरा-टकरा कर छितर ना जायें, इसके लिये विकट या बहुत संकरे स्थानों में स्वयं शहतीरों को ही पानी में साध कर नहरसी बना दी जाती है। ऊपर से शहतीर पर शहतीर फिसलते चले जाते हैं। हम नाले से इतनी ऊंचाई पर थे कि नीचे के आदमी खिलौने से दिखाई दे रहे थे। बहाव इतना तेज़ था कि उसकी गूंज ऊपर तक आ रही थी। जल चट्टानों से टकराने के कारण नाला झाग से भरा हुआ था।

ऊंचाई बढ़ती जा रही थी और हरियावल बढ़ती जा रही थी। कई जगह तो देवदारों की शाखायें सड़क पर ऐसे छा गई थीं कि आकाश भी दिखाई न देता था। आकाश पर बादल आ रहे थे। पैदल नहीं चल रहा था परन्तु टट्टू के हाँफने की आवाज़ से चढ़ाई की कड़ाई का अनुमान हो सकता था। हल्की हवा से डोलते देवदारों की पत्तियों की सरसराहट और नदी की गूँज से वातावरण भरा हुआ था। घोड़े पर बैठा-बैठा गुनगुनाने लगा और सचमुच धीमे-धीमे गाने लगा। यहाँ अपनी भर्राई हुई, करख्त आवाज़ से किसी को खिन्न कर देने का भय नहीं था। उसी समय बांसुरी की मीठी तान सुनाई दी। टट्टू और खच्चर के पीछे चलने वाले फकीरु पर भी उस दृश्य और वातावरण का प्रभाव पड़ रहा था। वह अपनी बांसुरी निकाल कर दिल में उमड़ आई मिठास को पहाड़ी 'झिझोटी' की तानों में व्यक्त कर रहा था। खच्चर-टट्टू पर बोझ ढोने वालों को प्रायः ही अकेले सफर करना पड़ता है। सफर में बांसुरी ही उनकी साथी होती है। अपना गाना छोड़ टट्टू पर झूलते-झूलते बांसुरी की तान सुनने लगा।

घोड़े की सवारी का अभ्यास मुझे नहीं है, तिस पर फकीरू का टट्टू न तो इस सफ़र से और न मेरी सवारी से ही बहुत संतुष्ट जान पड़ता था। उसने झटके दे-दे कर मेरे शरीर के जोड़-जोड़ हिला दिये। कुछ देर आराम देने के लिये या स्वयं उस के झटकों से बचने के लिये पैदल चलने लगा। पैदल चलने से अच्छा-खासा पसीना आ गया। उस पसीने में वह हवा और भी सुहावनी लग रही थी। सड़क किनारे एक चौड़ी-चकली चट्टान देख कर कुछ सुस्ता लेने की इच्छा हुई, बैठ गया। अब सड़क से नाले की गहराई बहुत बढ़ गई थी। गूँज तो सुनाई दे रही थी परन्तु बहाव नीचे झाग की सड़क सा ही जान पड़ रहा था।

सामने से एक पैदल मुसाफिर, पीठ के पीछे छोटी सी गठरी बाँधे आता दिखाई दिया। सलाम कर वह ठिठक गया। मुझे अपनी भाषा समझने में असमर्थ अनुमान कर उसने मुँह पर मुट्ठी रख कर संकेत से सिगरेट माँगी। पहाड़ी लोगों में संकोच कम होता है। उसे सिगरेट देकर स्वयं भी एक सिगरेट लगा ली। फकीरू को भी पेश की परन्तु उसने जेब से अपनी चिलम निकाल कर उसमें सूखा तम्बाकू सुलगा लिया। मुसाफिर के सिगरेट सुलगा लेने पर मैंने पहाड़ी में पूछा—"खनाग यहाँ से कितनी दूर है ?"

"कुछ दूर नहीं है" खाँसते हुये उसने उत्तर दिया, "डाक बंगला दो मील होगा। बस्ती डेढ़ मील नीचे उतर कर मिलेगी।" और वह उठ खड़ा हुआ। हमें भी नसीहत की, "अब चल दीजिये, अंधेरा आ रहा है।"

पूछा—"क्यों, कुछ खतरा है ?"

"खतरा क्या है ?" उपेक्षा से वह बोला, "पर बाघ, भालू तो जंगलों में रहते ही हैं।" उसकी बात सुन कर जान पड़ा सचमुच अंधेरा बढ़ता चला आ रहा है। टट्टू पर चढ़ गया, टट्टू को तेज़ चलाने के लिये मुंह से जितनी भी तरह की आवाजें निकल सकती थीं, पैदा कीं। फकीरू ने हरी डाल की एक छड़ी ज़रूरत के समय टट्टू को काबू में रखने के लिये थमा दी थी, उसका भी काफी उपयोग किया लेकिन थके हुये टट्टू की चाल कड़ी चढ़ाई पर चढ़ने के बजाये घटती ही जा रही थी। वृक्षों का घनापन भी भयावना मालूम होने लगा था। जान पड़ता था, अंधेरा अब तक उनके घने पत्तों और शाखों में छिपा बैठा था, अब अपना समय आ गया देख कर उमड़ा चला आ रहा है। सड़क ऊपर चढ़ने के लिये पहाड़ी घाटी में पड़ गई फांकों में धंस-धंस कर ऊपर जाती है। सड़क के किनारे की पहाड़ की दीवारों में जगह-जगह बड़ी दरारें पड़ी हुई हैं। यह सब बाघों और भालुओं की ही जगहें जान पड़ने लगीं। कलाई पर बंधी घड़ी पर बार-बार नज़र डाल कर मन को विश्वास दिलाना चाहता था कि अंधेरा बादलों के घनेपन के कारण है वर्ना अभी छः ही बजे हैं। जंगली जानवर तो सूर्यास्त के समय ही शिकार के लिये निकलते हैं, अभी खतरा नहीं है परन्तु मन का भय कहता, बाघ और भालू घड़ी देख कर तो शिकार के लिये चलते नहीं। इस स्थान से जितनी जल्दी निकल जायें भला परन्तु टट्टू की चाल बढ़ नही रही थी।

सड़क जब पहाड़ की कांखों में से चक्कर देकर चढ़ती तो इतना अंधेरा हो

जाता कि सँध्या के आठ बज गये हों। जब चट्टानों के ऊपर खुले में आती तो ठीक नाले की कगार के किनारे-किनारे चलती। कगार भी कैसी, सड़क से सीधे नीचे ढ़ाई-तीन सौ फुट की गहराई। पहाड़ी टट्टू में अजीब लत होती है, सड़क पर बीचों-बीच कभी नहीं चलेगा, पहाड़ की दीवार की तरफ भी नहीं चलेगा, सड़क के किनारे सदा ढलवान की कगार पर चलेगा। अगर उसका सुम दो इंच भी फिसल जाये, या सुम के नीचे का पत्थर ही ठसक जाये तो परिणाम की कल्पना कर लीजिये ! टट्टू को पुचकार कर, लगाम खींच कर, छड़ी मार कर किनारे से सड़क के बीच में ले आने के सब प्रयत्न कर लिये परन्तु वह परम क्रोधी-सत्याग्रही जीव था। अपने पर अत्याचार करने वाले को समाप्त करने के लिये स्वयं भी समाप्त हो जाने के लिये तैयार जान पड़ता था। फकीरे की बांसुरी कब की चुप हो चुकी थी। चढ़ाई के कारण उसकी सांस फूल गई हो या अंधेरे का भय उसके भी मन पर छा गया हो। घड़ी देखी एक घण्टे में हम लोग केवल सवा मील बढ़ पाये थे। सोचा, जो हो, रास्ता तो कदम-कदम चलने से ही पूरा होगा।

ऐसी ही हालत में सड़क के चार-पांच घुमाव ऊपर चढ़ कर हम लोग जंगल से बाहर हो गये। ढोरों के गले की घंटियों का शब्द सुनाई दिया। कुछ समतल से घाटों पर खेत दिखाई दिये। खेतों के परे, छतों पर धूप में सुखाने के लिये बिछाई गईं लाल-पीली मक्का के दानों से ढंकी काली-काली झोपड़ियां। उनके चारों ओर एक पहाड़ी कुअन्न 'बीथू' के खेत। खेत पक गये थे। बीथू के पत्ते पीले पड़ गये थे और बालें मुर्गों की कलगियों की तरह सुर्ख हो रही थीं। उमड़ते बादल भी विचार बदल चुके थे। अस्तोन्मुख सूर्य की किरणें अन्तिम भेंट के लिये पहाड़ियों के माथे, झोपड़ियों और खेतों से लिपट रही थीं। जान पड़ा प्रकृति मुस्करा रही है। शायद मेरे होठों पर भी मुस्कराहट फिर गई हो।

यह सब दृश्य बहुत सुन्दर लगने पर स्वयं ही प्रश्न भी उठा कि सुन्दर क्या है ? मनुष्य के लिये सब से सुन्दर मनुष्य की संगति है। मनुष्य की मेहनत से तैयार मनुष्य की रक्षा के उपाय हैं। अब सड़क भी कगार के किनारे से कुछ सरक आई थी और बहुत दूर गहराई में उद्दाम वेग से बहती नदी भी सुन्दर लग रही थी। मन तर्क करने लगा—यदि यह नदी यहाँ न होती तो पहाड़ों पर पैदा होने वाली अरबों रुपये की लकड़ी यहाँ ही बरबाद हो जाती और यदि इस प्रवाह को लगाम लगा कर बीस-तीस हज़ार घोड़ों की शक्ति

की बिजली में बदल लिया जाये तो कांगड़ा से बिजली की रेलें दौड़ सकेंगी। जो सफर मैंने बारह घण्टे में तय किया है, आधे घण्टे का समय लेगा। भूखों का स्वर्ग, यह कांगड़ा सचमुच स्वर्ग बन जायगा। स्विटजरलैण्ड और रूस में मनुष्य ऐसा कर सका है तो कांगड़े में क्यों नहीं कर सकेगा ?

एक खेत में निराई करती चीथड़ों में लिपटी हुई दो स्त्रियाँ मीठा गीत गा रही थीं। मेरे घोड़े की टाप सुन उन्हों ने घूम कर देखा। परदेसी को देख लज्जा से मुस्कराकर चुप हो गईं। उनकी उस मुस्कान को मैं स्मृति में साथ ले आया हूँ परन्तु उन से कुछ छीन नहीं लाया। यदि सभी स्त्री-पुरुष एक दूसरे को देख कर मुस्कराया करें, तो क्या अच्छा हो। वे दोनों अपनी उस अवस्था में ही सन्तुष्ट थीं; शायद इसलिये कि सन्तोष का कोई दूसरा रूप या स्तर उन्हें मालूम ही नहीं है।

सूर्यास्त होते-होते 'खनाग' के सिविल रेस्ट-हाउस में पहुँच गया। आस-पास बाजार, दुकान कुछ न था लेकिन फकीरू ने रात के समय अगले जंगल में कदम रखना उचित न समझा। रात कैसे बीतेगी; सोचता हुआ बराम्दे में टहल रहा था। एक आदमी ने आकर सलाम किया। यह बंगले का चौकीदार रामसिंह था। उस का गाँव बंगले से डेढ़ मील था। उस के गाँव के किसी आदमी ने पहाड़ की ऊँची सड़क पर मुझे देख, उसे खबर दे दी थी कि कोई साहब बंगले पर जा रहा है। वह बेचारा भागा हुआ आया। रामसिंह ने पहले ही बात साफ कर दी कि मेरे आने की खबर पहले से न होने के कारण वह ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकेगा, इस में उस का कसूर नहीं है। अगर मेरे पास कुछ सामान है तो वह पका कर दे सकता है वर्ना बंगले के गोदाम से चाय और चीनी लेकर मुझे चाय पिला देगा। हाँ, अगर मुझे मक्का की रोटी और आलू की तरकारी खाना मंजूर हो तो वह तैयार कर सकता है। मैंने उस की सब शर्तें स्वीकार कर लीं। मुझे चाय देकर उसने कमरे की अगीठी में आग जला दी और दूसरे प्रबन्ध में लग गया।

खनाग का सिविल रेस्ट-हाउस समुद्रतल से ८००० फुट की ऊँचाई पर है। ऊँचे पहाड़ के कन्धे पर प्रकृति ने लगभग चार बीघे ज़मीन चौरस बना दी है। मालूम होता है, दुनिया की छत पर आ पहुँचे हैं। नारकण्डा की ऊँचाई खनाग से भी अधिक है परन्तु वहाँ बंगला कुछ गहराई में बना है। यहां बिलकुल छत पर होने का सा अनुभव होता है। कुछ ही दूर 'जलोरी' की पर्वतश्रेणी

की दीवार सी खड़ी है। उस की ऊँचाई १०००० फुट है। बंगला बहुत साफ़-सुथरा था। बादल फिर उमड़ आये थे और झमाझम बरसने लगे थे। रामसिंह ने एक बहुत सुन्दर कट-ग्लास (स्फटिक) का, डबलबत्ती का लैम्प कमरे में जला दिया। अंगीठी में भरपूर लकड़ी भर देने से आग की स्वच्छन्द लपटें उठ रही थीं। मैं आराम-कुर्सी पर पसरा हुआ मक्का की रोटी और आलू की तरकारी की प्रतीक्षा में, पन्द्रहवीं सदी में रूस पर बाटूखाँ के आक्रमण के वर्णन पढ़ रहा था।

बाटूखाँ रूस पर आक्रमण करने के लिये मंगोलिया से हज़ार मील दूर गया था। हज़ारों ऊँटों पर उस के खेमे थे और हज़ारों घुड़सवार उस की सेना में थे। उस कठिन सफर में वह अपने साथ केवल सात बेगमों को ले जा सका था। उस के काफिले में एक आदमी एक बड़े मुर्ग़े को बगल में दबाये साथ-साथ चलता था। इस का प्रयोजन था कि ब्राह्म-मुहूर्त में मुर्ग़े के बांग देने पर काफिले के लोगों को उठने का समय पता लग जाये। आज वह इतना बड़ा काम छोटी सी अलार्म-टाइमपीस बैग में रख लेने से हो सकता है। तीन दिन पहले नारकण्डा में खच्चर नहीं मिला था, कुली भी बड़ी कठिनाई से मिला था। एक कारण यह भी था कि पटियाला के महाराज का खेमा रामपुर-बुशैर जा रहा था। उन का सामान साठ खच्चरों और लगभग चालीस कुलियों की पीठ पर था। महाराज बाद में, परिचरों सहित मोटरों में आकर घोड़ों पर जाने वाले थे। चार दिन पहले पंजाब का गवर्नर इस ओर से गया था। गवर्नर के खेमे में कुल छः घोड़े और सामान के लिये आठ खच्चर थे। किस का रोब ज्यादा है? गवर्नर का या पटियाला के राजा का? उत्तर है, दो संस्कृतियों का अन्तर! गवर्नर पूंजीवादी प्रजातन्त्र की संस्कृति में विश्वास रखता है और पटियाले का राजा सामन्तवादी संस्कृति में।

चार दिन पहले गवर्नर इस पलंग पर सोया था, आज मैं सो रहा हूँ। महाराज पटियाला, राणा प्रताप और शाहजहाँ यह बात सहन नहीं कर सकते थे। सामन्तवादी संस्कृति में सामन्तों की परस्पर समानता हो सकती थी, पूंजीवाद के युग में पूंजी रखने वालों की हो सकती है। सामन्तवादी युग में शक्ति या पैदावार के साधनों पर अधिकार वंश-परम्परा या तलवार के ज़ोर पर हो सकता था, पूंजीवाद में पूंजी के ज़ोर से। मेरे पास वास्तव में चाहे पूंजी न हो लेकिन मैं तीन-चार महीने की कमाई दस-पन्द्रह दिन में फूंक कर,

इस आराम और अधिकार के लिये मूल्य दे सकता हूँ। कोई दूसरा पहाड़ी किसान-मज़दूर, मुसाफिर चाहे बाहर वर्षा और सर्दी में ठिठ़र कर मर जाये, इस बंगले में क़दम नहीं रख सकता। यह मनुष्यों की समानता कहाँ है ? पूंजी के रूप में अधिकारों की समानता है परन्तु पूंजी पा सकने के लिये अवसर की समानता नहीं है।

रामसिंह कम्बल की चोंगी में लिपटा खाना लेकर हाज़िर हुआ--"हुजूर, बन्दूक निकाल लीजिये।"

"क्यों ?" चौंक कर पूछा

"बाहर कस्तूरा हिरन चर रहा है" आश्वासन मिला; बाघ नहीं हिरन है।

"बन्दूक तो साथ नहीं है"

मेरे उत्तर से उसने निराशा प्रकट की, बहुत अच्छा मौका था। उससे पूछा--"यहाँ क्या दूसरे जंगली जानवर भी आते-जाते रहते हैं ?"

"जानवरों की कमी नहीं है, जंगल ठहरा। जंगल तो जानवर का घर ह। बाघ, भालू यहाँ बहुत हैं। मैं सब दरवाजे बन्द कर दूंगा। बारिश में दरवाजा खुला रहे तो भालू पीछे से गुसलखाने में घुस कर बैठ जाता है।" इस समाचार से कुछ उत्साह नहीं बढ़ा।

"यह सुनिये" एक अजीब भद्दी सी, समीप ही से सुनाई देने वाली आवाज की ओर ध्यान दिलाकर रामसिंह ने कहा--"यह कस्तूरे की आवाज है।"

कुछ देर बाद रामसिंह कम्बल ओढ़े हरीकेन लालटेन लिये फिर आया और बोला--"अपने घर जा रहा हूँ। सुबह सात बजे आकर सलाम करूंगा"

कमरे में कट-ग्लास के डबलबत्ती लैम्प से खूब रोशनी थी, आग थी, नीवारी पलंग था, नीचे भी ऊनी दरी बिछी थी। बाहर जहाँ कस्तूरा हिरन चर रहा था, बाघ और भालू को भी आने-जाने में क्या संकोच होता ? सब किवाड़ों की चिटखनियाँ भीतर से देख लीं। आग के कारण एक खिड़की खुली रखना जरूरी था। देख लिया कि खिड़की में दोहरी जाली लगी है। भय का कोई कारण न होने और थकावट से चूर होने के कारण बिस्तर पर लेट गया।

घने जंगल में सड़क पर, बादलों के अंधेरे में बाघ और भालू के डर की बात याद आई। खयाल आया, मुझे बाघ और भालू से इतना डर क्यों लगता है ? ऐसे बहादुर भी तो हैं जो मजनू की तरह उन्हें जंगल में खोजते फिरते हैं ? उत्तर तो सीधा था--उनके हाथ में बन्दूक रहती है। यह बन्दूक ही

प्राणों पर आने वाले भय से मनुष्य की रक्षा करती है। बन्दूक प्रकृति पर मनुष्य की यांत्रिक विजय का प्रतीक है। बाघ और भालू, जिनका एक तमाचा मनुष्य की जिन्दगी समाप्त कर देने के लिये काफी है, ऐसे सशस्त्र मनुष्यों से भागते हैं। जल के ऐसे वेगवान प्रवाह, जिन में मनुष्य का शरीर पड़ जाने पर उसके रोम और स्नायुओं के हजारों टुकड़े हो जायें, मनुष्य की यांत्रिक शक्ति के कारण बिजली की शक्ति के रूप में परिवर्तित होकर उसे गरमी में पंखे करते हैं और जाड़े में गरमाहट पहुँचाते हैं, उसकी सवारियों को खींचते हैं। पर ऐसे भी लोग हैं जो यन्त्रों के विकास की इस संस्कृति को केवल मनुष्य के लोभ से उत्पन्न पतन का ही मार्ग समझते हैं। मनुष्य-समाज क्या बाटूखाँ और चंगेजखाँ के समय अधिक संस्कृत और सभ्य था ? या मनुष्य-समाज उस समय अधिक सभ्य और सुखी था जब उसकी आवश्यकतायें पूरी करने का उपाय आवश्यक पदार्थों को प्रकृति में से चुनते फिरना ही था या आपस में एक दूसरे से छीन लेना ? आज आवश्यक पदार्थों को पैदा कर सकने की मनुष्य की शक्ति की कोई सीमा ही नहीं रही। नींद में बेखबर हो गया।

सुबह नींद टूटी तो ठहर-ठहर कर बारिश हो रही थी। फकीरू ने वर्षा में चलने का कोई आग्रह नहीं किया। प्रायः सन्ध्या तक झड़ी लगी रही। अंगीठी में धीमी-धीमी आँच के सेक के सामने और कभी कम्बल ओढ़े बराम्दे में बैठे पढ़ते-पढ़ते दिन बीत गया। अगले दिन प्रातः खूब उजली धूप निकल आई। सुबह उबले आलू का नाश्ता और चाय देते समय रामसिंह ने याद दिलाया—"रात में कस्तूरा हिरन के यहाँ आने की बात से आपको अचम्भा हुआ था ? यह देखिये·······" वह बरामदे के सामने घास से ढंके आँगन में उतर गया और अंजली में छोटी बकरी की मींगें सी उठा लाया—"सूंघिये इसे !"

मुझे झिझकते देख उसने आग्रह किया—"सूंघिये तो" उसने अंजली समीप कर दी। कस्तूरी की सुगन्ध मालूम हुई।

फकीरु ने घोड़ा और खच्चर कस लिये। लगभग अढ़ाई मील कड़ी चढ़ाई थी। घोड़े को अनावश्यक रूप से न थकाने के लिए पैदल ही चला। जलोरी की पहाड़ी के कंधे पर पहुंच गये। यहाँ एक पत्थर लगा है जिस पर समुद्र-तल से उंचाई लिखी है, दस हजार और कुछ फुट। पीछे की ओर घूम कर देखने से खूब ऊँची बरफानी चोटियों की पंक्तियाँ स्पष्ट और समीप ही दिखाई

दे रही थीं। बरफानी चोटियों के जो भाग बिल्कुल सूर्य के समाने पड़ रहे थे, खूब श्वेत झलक रहे थे जो छाया में थे वे नीली श्यामलता लिये थे। पैदल चलकर आया था। खच्चर और घोड़ा आधी फर्लांग पीछे रह गये थे। जरा साँस लेने के लिये बैठ गया और धूप सेकने लगा।

यहाँ से कुल्लू-सिराज का भीतरी भाग आरम्भ हो जाता है। एक गद्दी, सर्दी के आरम्भ में अपनी भेड़ों को कुल्लू के भीतरी भाग से बाहरी भाग की ओर ले जा रहा था। भीतरी भाग के घाटों पर जाड़ों में बरफ़ पड़ जाती है। घास बरफ़ के नीचे दब जाने के कारण भेड़-बकरियां भूखी मरने लगती हैं इसलिये यह लोग कम ऊंची और अपेक्षाकृत गरम पहाड़ियों के घाटों पर उतर आते हैं। भेड़ों के ऐसे गोल अक्टूबर-नवम्बर में नीचे की ओर जाते और मार्च-अप्रैल में ऊपर की ओर चढ़ते इन सड़कों पर प्राय: ही मिलते हैं। गद्दी-गद्दिन और उनके एक दो-बच्चे डेढ़-दो सौ भेड़ों को धीमे-धीमे हाँकते चलते रहते हैं। जहाँ अच्छी घास देखी, कुछ देर के लिये रुक गये या पड़ाव ही डाल दिया। अपने आहार का आटा-चावल और सूखा माँस यह लोग भेड़ की खाल के थैलों में अच्छी मजबूत भेड़ों पर लादे रहते हैं।भेड़ों के दूध का पनीर भी बना लेते हैं। सामान इनका बहुत संक्षिप्त होता है। कपड़े बदलने का कोई सवाल नहीं। हाथ के कते-बुने ऊनी कपड़े का एक खूब ढीला घुटनों तक का कोट या चोला, जिसके सामने के पल्ले एक दूसरे पर चढ़े रहते हैं। बटन या घुंडी का कोई रिवाज़ नहीं है। काली ऊन की कई हाथ लम्बी रस्सी चोले को सम्हाले रखने के लिये कमर पर लपेट ली जाती है। गद्दी अपने आप को जितना धनी या सम्मानित समझता है, उतनी ही लम्बी रस्सी कमर में लपेट लेता है।

गद्दी के ढीले-ढाले कोट को कमर पर कसे रहने वाली ऊनी रस्सी शरीर के चारों ओर फैला हुआ एक झोला सा बना देती है। रास्ते चलते काम में आने वाला सामान, या रास्ते चलते पैदा हो जाने वाले भेड़ों के बच्चों को भी गद्दी इसी झोले में रख लेता है। मांस यह लोग प्राय: बकरी का खाते हैं। उसका दूध नहीं पीते। भेड़ के दूध का उपयोग कर लेते हैं तो उसका मांस नहीं खाते। अलमोड़ा ज़िले में 'पिंडारी' के आस-पास भेड़ों पर निर्वाह करने वाले लोग भेड़ का मांस खा लेते हैं। वे लोग भेड़ के दूध का व्यवहार नहीं करते। इन लोगों की नैतिक धारणा है कि जिस जीव का मांस खाया जाये, उसका दूध नहीं पीना चाहिये और जिसका दूध पिया जाये उसका मांस नहीं खाना चाहिये।

यह लोग यांत्रिक सभ्यता के सभी विकारों से मुक्त हैं ।

गद्दी लोग अपने आप को हिन्दू कहते हैं । इनमें ब्राह्मण, खत्री, राजपूत और उपजातियाँ भी हैं । यह लोग बताते हैं कि इनके पूर्वज पठान और मुग़ल आक्रमणों के समय लाहौर-अमृतसर से ही भाग कर पहाड़ों में आ बसे थे । काँगड़े के अन्य हिन्दू, ब्राह्मण, खत्री और राजपूत इनके हाथ का छुआ नहीं खाते । हिन्दू वर्णाश्रम धर्म की परिणति या प्रवृत्ति अपने फैलाव की ओर नहीं बल्कि सिकुड़ने और सिमिटने की ओर है । उसकी जड़ में सामन्तवादी अर्थनीति है । अवसर और अधिकारों को जितने कम लोगों तक सीमित और परिमित रखा जा सके, शासक वर्ग उतना ही सुखी और सुरक्षित रह सकेगा । अब आर्थिक अवस्थाओं के परिवर्तन से और शासन-शक्ति वर्णाश्रम पद्धति के हाथों से निकल जाने पर वर्णाश्रम धर्म आर्थिक अवसर और अधिकार पर तो पाबन्दी नहीं लगा सकता हाँ, प्रतिष्ठा और सम्मान को सीमित बनाये हुये है । इस प्रतिष्ठा और सम्मान का रूप है अपने आप को दूसरों से पवित्र समझना ।

गद्दियों का रूप-रंग बहुत शुद्ध आर्य रक्त का जान पड़ता है । गद्दिनों के स्वस्थ सौन्दर्य पर राजाओं के मोहित होकर उन्हें रनवास के आँगन में बन्द कर लेने की अनेक कहानियाँ काँगड़े के पहाड़ी गीतों में भरी हैं । राजा उनके सौन्दर्य में अपने आपको चाहे जितना भूल जाता हो परन्तु गीतों में वर्णित गद्दिन कामिनियाँ राजमहलों में प्रसन्न नहीं रह पाती थीं । हरम की दीवारों और पर्दों में ढंकी रह कर वे सूर्य के प्रकाश से वंचित पौदों की भाँति कुम्हलाने लगती थीं । चिकने, चिप-चिप (घी से भरे) और होंठों और जीभ को जला देने वाले (मसालेदार) भोजनों से उन्हें अरुचि और अपच हो जाता था । हाथों, गले, कलाइयों और पावों में चमकदार धातु के बन्धन फंसा देने से उनकी स्वच्छन्दता जाती रहती थी । जिह्वा घुमा-घुमाकर तोते की तरह पढ़ाई गई बोली बोलने से उनका मन उदास हो जाता था । उन्हें यदि कभी निकल भागने का अवसर मिल जाता तो वे पिंजरे का द्वार खुला पा जाने वाले तोते की तरह स्वच्छन्द पर फैला सकने के लिये उड़ जातीं और पहाड़ी बकरी के छौने की तरह, चट्टान-चट्टान कूदती अपने प्यारे देश पहुँच जातीं । शरीर पर अनुभवहीन होने वाले हल्के कपड़ों को फेंक फिर कम्बल का लबादा--लहंगा पहन कर, कमर में रस्सी लपेट कर प्रसन्न हो जाती थीं । जंगली पहाड़ी कसैले फल, मंडल की रूखी रोटी और भेड़ का खूब खट्टा दही खा कर मुख का

स्वाद ठीक करतीं और दोनों कानों पर हाथ रख कर स्वच्छन्दता से गीत गा उठती थीं।

बहुत ऊँची चोटियों पर वृक्ष नहीं होते। घास भी छोटी परन्तु खूब घनी होती है। जलोरी के इस कंधे पर एक गद्दी का धन (भेड़ों का गोल) चर रहा था। गद्दी स्वयम एक चट्टान पर कुड़मुड़ाया बैठा चकाचौंध करने वाली धूप सेंक रहा था। उस से कुछ अन्तर पर दायें-बायें दो कुत्ते आँखें आधी मूंदे, मुंह आगे फैले पंजों पर रखे सुस्ता रहे थे। भेड़ों की रखवाली गद्दी नहीं यह कुत्ते ही करते हैं। देखने में बहुत शाँत और सीधे, किसी मुसाफिर से कुछ नहीं बोलते लेकिन यदि मुसाफिर भूल से, ऊन के खिलौनों जैसे प्यारे लगने वाले किसी भेड़ के मेमने को झुक कर प्यार के लिए उठा लेना चाहे तो यह कुत्ता एक ही छलाँग में उसकी गर्दन मुंह में लेकर झटक देगा।

मुझे दूसरी चट्टान पर बैठ गया देख कर गद्दी सिकुड़ता हुआ, हाथ में चिलम लिये समीप आया। संकेत से उसने दियासलाई माँगी। कुछ विस्मय हुआ। जेब से 'लाइटर' निकालकर और जलाकर उस की ओर बढ़ा दिया। लाइटर देख कर वह विस्मित रह गया। उस ने उसे स्वयं जलाकर देखा और अंग्रेज की कारीगरी पर बहुत खुश हुआ। पहाड़ में लाइटर से सुविधा रहती है। दियासलाई कभी सील जाती है और जेब में रहने पर भीगने की भी आशंका रहती है। उस के दियासलाई माँगने पर मुझे भी विस्मय हुआ कि कोई गद्दी 'ठिनुक' लिये बिना नही चलता। 'ठिनुक' का अर्थ है एक टुकड़ा 'चकमक पत्थर' और एक छोटा सा लोहा। इस के साथ ही एक चिंगारी से जल जाने वाली सूखी घास भी रहती है। लाइटर को ठिनुक ही समझिये। उस में ठिनुक के भिन्न-भिन्न भाग--पत्थर, लोहा और जलने वाली वस्तु एक साथ जुड़े रहते हैं। प्रश्न किया--"ठिनुक नहीं है ?"

उसने स्वीकार किया-"ठिनुक है तो परन्तु इस बर्फानी हवा से हाथ ठिठुर गये हैं। जलाने में कठिनता होगी।" एक ओर चकाचौंध धूप दूसरी ओर ठिठुरन ! पिछले दिन खनाग के डाकबंगले में बैठा एक सचित्र रूसी पत्रिका अंग्रेजी में पढ़ता रहा था। इस पत्रिका में 'काकेशस' और 'यूराल' की ऊँची बर्फानी चोटियों के समीप भेड़ चराने वाले, हमारे गद्दियों की प्रतिलिपि, समाजवादी गद्दी लोगों के, क्रांति के पश्चात आधुनिक जीवन का सचित्र वर्णन था। उन के भेड़ों के गोल सौ-दो सौ के नहीं हज़ारों के हैं। भेड़ों की

नस्ल में सुधार कर लेने से भेड़ों का आकार हमारी भेड़ों से चौगुना बड़ा है। अर्थात प्रत्येक भेड़ चौगुनी-पचगुनी ऊन और दूध का पनीर दे रही है। चित्र में वे चमड़े का एक छोटा तम्बू लगाये थे। उन का खाना कुछ मिनटों में 'प्रेशर-कुक्कर'* द्वारा पक जाता है। यहाँ पहाड़ों की इस ऊँचाई पर उरद की दाल या गोश्त पकाना कठिन हो जाता है, गलता ही नहीं। यह लोग बैटरी का रेडियो लगाये कई हज़ार मील दूर मास्को से संगीत सुन रहे थे। उन की भेड़ें भी कुत्तों की देख-रेख में चर रही थीं। दो-तीन आदमी रेडियो की धुन पर नाच रहे थे। एक-दो कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। इन के पास 'वायर-लेस ट्रांसमिटर' भी रहते हैं। आवश्यकता होने पर वे अपने सन्देश एक सैकण्ड म दूर से दूर की बस्तियों में पहुँचा सकते हैं। यह सब सभी जगह होना सम्भव है लेकिन शर्त यह है कि विज्ञान के साधनों को केवल मुनाफा बटोरने का साधन न बनाकर सम्पूर्ण समाज के लिये सन्तोष प्राप्त करने का साधन बनाया जाये।

जलोरी से बंजार तक विकट उतराई है, जैसी कि अणी से खनाग तक चढ़ाई थी। बंजार से मील भर रहे होंगे कि भयंकर वर्षा होने लगी। कुछ देर एक पेड़ के नीचे रुके रहे। हमें खूब भिगोकर वर्षा शीघ्र हो रुक गई। बंजार पहुँचकर डाकबंगले ही जाना निश्चय किया। सामान रखकर फकीरू का हिसाब चुकाकर बिदा कर दिया। उस का मेरा सम्बन्ध यहीं तक का था। फक़ीरू जिस खच्चर और घोड़े को हाँक रहा था, वे उस के अपने नहीं लूरी के शाह ज़ी की सम्पत्ति थे। वह दिन भर खच्चरों के पीछे पैदल चलने और खच्चरों की सेवा करने, वर्षा में भीगने, धूप में तपने और भयानक स्थानों में आने-जाने का मोल डेढ़-दो रुपया रोज़ पाता था। यह तरक्की भी अभी हाल में मज़दूरी का दर बढ़ जाने के कारण हुई थी। वह यह नौकरी करने के लिये विवश है क्योंकि उस के पास केवल तीन बीघा ज़मीन है। वह फसल बुवाई के समय जाकर हल-बैल उधार लेकर अपने खेत जोत आता है। शेष काम उस की 'जुणास' (घरवाली)करती रहती है। फसल कटाई पर वह फिर पहुँच जाता है। उस की खेती की उपज इतनी है कि साल भर का अन्न भी उस से

---

*समुद्रतल से चाहे जितनी ऊँचाई हो, प्रेशर-कुक्कर में सख्त से सख्त अनाज, दाल, मांस आदि दस मिनिट में गलकर नरम हो जाते हैं।

नहीं निकलता। मालगुजारी और दूसरे खर्चे अलग हैं। वह सन्तुष्ट है। भगवान के न्याय से वह शाह जी की खच्चरें हाँक कर उन के लिये आठ-दस रुपये रोज पैदा कर देता है। यदि वह ऐसा न करे तो भगवान के सामने क्या जवाब देगा ? वह सन्तुष्ट है कि वह भगवान की दया से बहुतों से अच्छा है। उस का शोषण हो रहा है परन्तु उस के लिये यंत्रों का उपयोग उत्तरदायी नहीं है।

बंजार से चार-पाँच मील पर 'औट' है। औट में मोटर की सड़क है। सोचा था, वहाँ से मोटर पर ही कुल्लू जाऊँगा। मोटर-लारी क्या, टैक्सी भी घोड़े-खच्चर से सस्ती पड़ती है। कारण, घोड़ा-खच्चर जितना दो दिन में कमा सकता है मोटर दो मिनिट में। वर्षा में भीगे कपड़ों को बरामदे में फैला ही रहा था कि दूसरे कमरे में ठहरे मुसाफिर आकर बोले--"आइये, जो कुछ रूखा-सूखा है मेरे साथ खाइये !"

यह पंजाबी मुसलमान थे, जंगलात के कोई छोटे अफसर। मुसलमान की साम्प्रदायिक संस्कृति का यह तकाज़ा था कि खाना खाते समय जो कोई समीप हो, उसे साथ खाने का निमंत्रण दे। रेल में ऐसा अनुभव प्रायः ही होता है कि मुसलमान दो रोटी और प्याज की पोटली भी खोलेगा तो रूमाल सामने बिछाकर आस-पास बैठे मुसाफिरों को निमंत्रण दे लेगा। हिन्दू अपना कटोरदान दूसरे मुसाफिरों की ओर पीठ कर खोलता है जैसे कि दूसरों से शर्मा रहा हो। सम्भव है कुछ हिन्दू भाई इस ढंग का भी कोई वैज्ञानिक या आध्यात्मिक कारण बता सकें।

भूख लगी होने पर भी संकोच से उत्तर दिया--"आप ने एक आदमी का खाना बनवाया है, आप शौक कीजिये। मेरा भी इन्तज़ाम जल्दी ही हो जायगा।" उन का निमंत्रण केवल तकल्लुफ ही न था। सुबह के परौंठे भी उन के पास थे। यहाँ आकर उन्होंने खिचड़ी बनवाई थी। दोनों को हो गई।

औट में मोटर में जगह न मिली क्योंकि पठानकोट से कुल्लू के लिए मोटरें खचाखच भरी हुई आ रही थीं। कुल्लू में दसहरे के मेले के दिन थे। मैं भी इन दिनों इसी आकर्षण से आया था। अठारह मील और पैदल ही पूरे किये। रास्ता व्यास नदी के साथ-साथ गया है। किनारे के खेतों के लिये मैदानी पट्टी छोड़कर घास से ढकी छोटी-छोटी पहाड़ियों का क्रम है। दूसरी ओर नीली-नीली झिलमिल व्यास के पार किनारे-किनारे उद्दाम पहाड़।

पिछले वर्ष लाहौर गया था तो संयोग से दुर्गा भाभी का साथ था। हम लोग कुछ दिन के लिए मोटर के रास्ते कांगड़ा-कुल्लू भी आये थे। जगह से परिचित था। कुल्लू में डाकबँगला शहर से दूर है और प्रायः ही अफसर उसे रिजर्व किये रहते हैं। इस समय तो मेला था। जगह-जगह अफसरों के तम्बू लगे हुए थे। होटल यहाँ हैं नहीं। पिछले वर्ष हम लोग गुरुद्वारे में ठहरे थे। विशेष आराम की जगह न होने पर भी सर्व-साधारण के लिए नगरों में गुरुद्वारे शरण की अच्छी जगह होते हैं। गुरुद्वारे के साधारण नियम के अनुसार वहाँ किसी भी यात्री को ठहरने में रुकावट नहीं होनी चाहिये। ग्रन्थी (गुरुद्वारे के पण्डे) से यात्री की यथा-सम्भव सहायता की भी आशा की जाती है। किसी प्रकार का किराया या मजदूरी नहीं ली जाती। आप यदि चाहें तो अपनी श्रद्धा से एक मोहरबन्द सन्दूक में, छिद्र से कुछ द्रव्य डाल सकते हैं परन्तु अधिकांश ग्रंथी भी लोभ से बच नहीं पाते।

पिछले वर्ष कुल्लू के गुरुद्वारे में हम लोगों को काफी सुविधा मिली थी परन्तु साथ के कमरे में एक दूसरे यात्री की फजीहत होते भी देखी थी। उस यात्री के विरुद्ध तत्कालीन ग्रन्थी का यह आरोप था कि इस आदमी ने गुरुद्वारे के मकान में हजामत करके गुरूद्वारे का नियम भंग किया है। गुरुद्वारे में हजामत करना या सिगरेट पीना शराब पी लेने से अधिक भयंकर अपराध है। यात्री का ग्रंथी पर यह आरोप था कि वह उस से घूस चाहता है। गुरुद्वारे में टिक कर कुछ दिन हजामत न करने या सीमा के भीतर सिगरेट न पीने का नियम तो निभाया जा सकता था; अधिक कष्टकर था, वहाँ शौच आदि के लिये प्रबन्ध न होना।

इस बार सामान लिये गुरुद्वारे पहुँचा तो सब जगह भरी हुई थीं। पुराने ग्रंथी भी बदल चुके थे। एक नये सिख सज्जन, श्वेत दाढ़ी-मूंछ, लहीम-शहीम शरीर परन्तु बहुत सहृदय चेहरा और बातचीत; बोले—"प्यारे, मेले और सत्संग का अवसर है। ऐसे समय जगह की क्या कमी? जगह तो दिल में चाहिये। तुम भी आ जाओ! मैंने खुद अपनी जगह एक बाल-बच्चेदार परिवार को दे दी है। मेरे साथ ही बरामदे में लेट रहना।"

सिख सम्प्रदाय का आविर्भाव, इस्लाम की आड़ लिये तत्कालीन दमन और शोषण के विरुद्ध हुआ था इसलिये सिक्खों में और उनके प्रार्थना स्थान में जनवादी भावना का बहुत प्रभाव था परन्तु गुरुद्वारों के पैतृक सम्पत्ति

और कमाई का साधन बन जाने पर मालिकों के ऐसे उद्देश्य को पूरा करने के लिये, वे घोर अनाचार और व्यभिचार के गढ़ भी बन गये थे। सन् १९२१-२२ से पूर्व अमृतसर का 'स्वर्ण-मन्दिर' संध्या-समय चाट खा आने और लफंगबाजी का मुख्य अड्डा था।

इसी अनाचार की पराकाष्ठा के विरोध में १९२१-२२ का 'गुरुद्वारा सुधार आन्दोलन' चला था। साम्राज्यवादी पूंजीवादी सरकार, पूंजीवाद के मूल आधार सम्पत्ति पर व्यक्तिगत और पैतृक स्वामित्व के अधिकार का विरोध कैसे सहन कर सकती थी। इस आन्दोलन को दबाने के लिये जो दमन हुआ, उसका अनुमान इसी बात से लग सकता है कि 'ननकाना साहब' गुरुद्वारे के गोलीकाण्ड में लगभग दो सौ निशस्त्र सत्याग्राही सिक्खों की जानें गयी थीं और एक-एक लाठी चार्ज में नौ-नौ सौ सत्याग्रही सिक्ख जख्मी होते थे। यह आन्दोलन सफल हुआ। सब गुरुद्वारों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार हटाकर जन-तान्त्रिक पंचायती प्रबन्ध कायम कर दिया गया। सत्याग्रह यदि कहीं पूर्णरूप में सफल हुआ है तो गुरुद्वारा सुधार के आन्दोलन में ही लेकिन यह पूंजीवाद का ही जनतन्त्र तो है। जिस जनतन्त्र में साधनों की समानता नहीं, वहाँ किसी भी बात में समता नहीं हो सकती और अनुचित प्रभाव डालने के साधन रखने वाले लोग उसका लाभ उठाये बिना नहीं रह सकते। जो भी हो, सिक्खों का सेवाभाव सराहनीय है। शायद कम लोगों को मालूम होगा कि गुरुद्वारे में संगति के समय समाज की जूतियों को उठाकर और सम्हाल कर रखना भी श्रद्धालुओं में सम्मानजनक समझा जाता है।

अपना सामान सरदार जी को सहेज कर बाजार में घूम कर देख रहा था कि कोई दूसरा प्रबन्ध सम्भव है या नहीं? सहसा दिखाई दे गये 'नेशनल कालिज' के प्रिंसिपल छबीलदासजी। छबीलदासजी गेरुआ वस्त्र पहने बिना ही राजनैतिक और सामाजिक सन्यासी हैं। उस समय वे कांगड़ा में सामाजिक और राजनैतिक चेतना जगाने में तत्पर थे, शायद अब भी हों। उन दिनों उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी—'भूखों का देश कांगड़ा का स्वर्ग' अर्थात काँगड़ा प्राकृतिक दृश्यों और साधनों की प्रचुरता के कारण, स्वर्ग होते हुए भी भूख से पीड़ित है। छबीलदासजी के कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। पहाड़ी प्रदेश में साधारण कृषि की उपज कम, यातायात के साधनों का अभाव और उद्योग-धन्धों से पैदावार का कोई अवसर न होने से, कांगड़ा के जवानों के लिए

खास रोजगार रहा है, तोपों का चारा बन जाने के लिए साम्राज्यशाही सेना में भरती हो जाना। फ़ौज में भरती लायक उम्र से पहले कांगड़ा के छोकरे लाहौर-अमृतसर जाकर घरेलू नौकरी करते हैं। सम्भवत: पंजाब भर के घरों में जूठे बर्तन मांजना और झाड़ू लगाना इनके भाग्य में आया है। जवान हुए तो तोप के सामने ! यही बात गढ़वाल, अलमोड़ा और नैपाल के बारे में है।

छबीलदासजी गले लग कर, आलिंगन से मिले जैसा कि पंजाबियों का कायदा है। नेशनल कालिज में विद्यार्थियों को समाजवादी दृष्टिकोण के प्रति उत्साहित करने में प्रिंसिपल छबीलदासजी का बहुत बड़ा सहयोग था। यहाँ भी उनके आस-पास राजनैतिक बहस चल ही रही थी। देश के बंटवारे की सम्भावना का आतंक यहाँ भी था। भाषा और व्यवहार की दृष्टि से कुल्लू और पंजाब में बहुत कम समानता है परन्तु कांगड़ा, कुल्लू मुगलों के राज्य-काल से पंजाब से बंधे चले आ रहे हैं। यहाँ मुस्लिम आबादी प्रति सैकड़ा तीन-चार भी नहीं है। ऐसी अवस्था में पंजाब का भाग होने के नाते पाकिस्तान से बाँध दिये जाने का भय कुल्लू के लोगों को सता रहा था। एक सज्जन तो पाकिस्तान में सम्मिलित होने से बचने के लिए नया भौगोलिक सिद्धान्त बना बैठे थे--'हम लोगों का सांस्कृतिक और भाषा सम्बन्धी सम्पर्क पंजाब से नहीं बंगाल से है।' उनके इस सिद्धान्त का आधार था कि हिमालय की राह कुल्लू से दार्जिलिंग और बँगाल तक जाने का रास्ता मौजूद है।

छबीलदासजी से मिलने पर मैं उन के साथ ही टिक गया। गुरुद्वारे के ग्रन्थी सरदारजी को अवश्य इस बात का असन्तोष रहा कि उन्हें एक और आदमी की सेवा और सहायता करने का अवसर न मिला।

कुल्लू के इस मेले में आने का प्रयोजन इस प्रदेश के आचार-व्यवहार का कुछ परिचय पाना था। एक समय इस मेले का बहुत महत्व था। यह एक प्रकार से दक्षिणी-मध्य-एशिया का व्यापारी मेला रहा है। इस मेले का व्यापारी महत्व यों भी समाप्त हो गया कि मध्य एशिया में समाजवादी व्यवस्था के कारण औद्योगिक उन्नति हो जाने से वहाँ के लोग अपना कच्चा माल वहीं खपाने लगे हैं। पहले यारकन्द और रूस की भारत को छूने वाली सीमा तक के लोग यहाँ आते थे। शेष रहा स्थानीय लोगों के राग-रंग और नृत्य-संगीत की बात ? वह कुछ तो आर्यसमाज के प्रचार और कुछ स्थानीय सुधारवादी लोगों के नागरिक पर्दानशीन सभ्यता के प्रभाव में आ जाने से बहुत कम हो

गई है। रात में कुछ जगह नाच-गान हुआ भी तो जैसे सहमे-सहमे।

मेले में एक स्थानीय सुधारवादी सज्जन लोगों को स्वच्छन्दता से गाने-नाचने की असभ्यता न करने का उपदेश दे रहे थे। दूसरे सज्जन अपने प्रदेश के सम्मान की रक्षा के लिये और भी चिन्तित थे। वे कैमरा लिये घूमने वाले रसिकों को सावधान करते फिर रहे थे—"आप 'देवियों' की फोटो नहीं खींच सकते!" इन महाशय की सम्मान सम्बन्धी धारणा भी विचित्र थी। उस समय तक ब्रिटेन के सम्राट् और सम्राज्ञी के चित्र घर-घर और हाट-बाजार में सब जगह लगे थे। इंगलैण्ड की रानी, माता कस्तूर बा और कमला नेहरू के चित्र या सिनेमा नटियों के चित्र दुनिया भर में फैल जाने से उनका अपमान नहीं होता लेकिन इनके विचार में कुल्लू की किसी सुन्दरी का फोटो ले लिया जाने से कुल्लू का अपमान हो जाने की आशंका थी।

कुल्लू के इस मेले का धार्मिक महत्व भी है। मेले के अवसर पर देवताओं का दरबार लगता है। समीवपर्ती प्रदेशों के सभी देवता अपने मन्दिरों से पालकियों पर चढ़ कर इस मेले में आते हैं। इस प्रदेश में अभी तक बहुदेव या अनेक ईश्वरवादी विश्वास चला आता है। प्रत्येक कुछ गावों या छोटी उपत्यका का अपना देवता है। दूसरे देवताओं का अस्तित्व स्वीकार करके भी यह लोग अपने ही देवता में विश्वास रखते हैं और उसी की पूजा करते हैं। कभी विशेष संकट की अवस्था में दूसरे देवताओं की सहायता भी ले लेते हैं। रास्ते में ऐसे देवताओं के मन्दिर दिखाई दिये। यह मन्दिर प्रायः लकड़ी के ही बने हैं और आकृति पगोडानुमा है; 'मुख्य देवता' कुल्लू राज्य के कुल देवता राम की मूर्ति होती है। कुल्लू के वंश क्रमागत राजा, जो अब शासन के सभी अधिकारों से वंचित हैं, आकर भगवान राम की पूजा में भाग लेते हैं और तब भगवान राम का रथ कुछ गज़ दूर तक चलता है और मेले का उद्यापन होता है। मेले का साम्प्रदायिक रूप किसी समय की राजनैतिक व्यवस्था की स्मृति-मात्र रह गया है, जब कुल्लू के राजा समीपवर्ती छोटे-छोटे राजाओं को अपने अधीन रखते होंगे। कुल्लू के देवता की शक्ति कुल्लू के राजा के सामर्थ्य के अनुसार ही सर्वोपरि रही होगी। अब राजनैतिक अधिकार चला जाने के बाद उन का धार्मिक आवरण-मात्र रह गया है।

×   ×   ×

इस बार कुल्लू से ही मोटर पर काँगड़ा लौट गया परन्तु गत वर्ष दुर्गा-भाभी के साथ आया था तो हम लोग कुल्लू से आगे 'मनाली' तक गये थे। मार्च का महीना था। मनाली में जगह-जगह बरफ़ पड़ी हुई थी। डाकबंगले की टीन की छत से फिसल कर गिरी हुई बरफ़ घुटनों तक ऊंची मेढ़ों के रूप में डाकबंगले को घेरे थी। हमारे दुर्भाग्य से/डाकबंगले में पहले से ही कोई साहब लोग टिके हुये थे इसलिये हम लोगों को उसी दिन लौट कर नग्गर' चले जाना पड़ा था।

नग्गर में ठहरने की इच्छा यों भी थी। वहाँ दो आकर्षण थे। प्रकृति के जगत प्रसिद्ध चित्रकार (मास्टर आफ़ माउण्टटेन्स) निकोलस रोरिक नग्गर में ही स्थायी रूप से रह रहे थे। उन के बनाये कुछ चित्र जहाँ-तहाँ देखे थे और इस पुरुष विशेष से मिलने की इच्छा थी। निकोलिस रोरिक क्रांति से पूर्व रूस के एक बहुत बड़े बैरन या काउण्ट (जागीरदार) थे। वे उसी समय ही हिमालय भ्रमण के लिये आये थे और फिर लौटे नहीं। आधुनिक रूसी समाज-व्यवस्था के प्रति उस महान कलाकार की भावना जानने का भी कौतूहल था।

नग्गर में ठहरने की असुविधा का प्रश्न नहीं था। लाहौर में हम लोग अपने पुराने मित्र प्रोफेसर बलवन्त के यहाँ ठहरे थे। उन्हीं के यहाँ, एक दिन चाय-पानी के समय श्रीमती बलवन्त की सहेली से परिचय हुआ था। बात-चीत में मालूम हुआ कि उन के पति सरकारी नौकरी निबाहने के लिये नग्गर में ही थे। वे जीव-विज्ञान के एम० एस-सी हैं और एक जाति से दूसरी जाति की मछलियां पैदा करने का काम कर रहे थे। जब उन्होंने सुना कि हम लोग कुल्लू जाना चाहते हैं तो उन्होंने हाथ जोड़कर अनुरोध किया--"हाय, हमारे यहाँ भी जरूर आइयेगा। हम लोग तो 'आदमी' की सूरत देखने के लिये तरस जाते हैं।"

नग्गर में छोटी-मोटी बस्ती तो है परन्तु वह आने-जाने वाले पंजाबी स्थानीय आदमियों को, उन की भाषा और आचार-व्यवहार के अपरिचय और विभिन्नता के कारण आदमी नहीं, 'माणू' कहते थे। कांगड़ा-कुल्लू की पहाड़ी बोली में आदमी को 'माणू'* ही कहते हैं। रोरिक की कोठी या महल नग्गर के सब से ऊँचे भाग में है। मिलने के लिये समय निश्चित कर लेना उचित

*माणू--मनुष्य, मानुस, माणुस का संक्षेप ही है।

था इसलिये एक आदमी के हाथ पत्र भेजकर पुछवा लिया। अगले दिन नौ बजे का समय तय हुआ। कड़ी चढ़ाई चढ़कर पहुँचे। कोठी के दरवाज़े पर वर्दी पहने अर्दली ने स्वागत किया और दर्शकों के हस्ताक्षर और पते का एक रजिस्टर हस्ताक्षर करने के लिये सामने पेश कर दिया गया। इस में लखनऊ के आर्ट स्कूल के प्रिन्सिपल, कई दूसरे यात्रियों और पंडित जवाहरलाल नेहरू के भी हस्ताक्षर मौजूद थे। कला के प्रति पंडित नेहरू का अनुराग है। वे रोरिक का आतिथ्य स्वीकार कर चुके हैं। उन के साथ कुछ दिन बिता चुके हैं।

ड्योढ़ी से जीना चढ़कर ऊपर पहुँचने तक ही पर्याप्त रोब हम पर पड़ गया। पूरा जीना और कमर की ऊँचाई तक जीने की दीवार भी ईरानी क़ालीनों से मढ़ी हुई थी और दीवारों पर भी रेशमी कपड़ों पर कढ़े और बने हुये अद्भुत बहुमूल्य चित्र थे। दीवार का कोई भाग कहीं खाली नहीं था।

रोरिक लम्बी, श्वेत दाढ़ी और गोल टोपी में कवीन्द्र-रवीन्द्र की ही प्रतिछाया जान पड़ते थे। कद कुछ नाटा और शरीर ज़रा भारी। वे बढ़िया पश्मीने का बन्द गले का कोट, निकर-बाकर और वैसे ही मोज़े पहने थे। बहुत सहृदयता से उन्होंने स्वागत किया। पहले उन्होंने बातचीत में हम लोगों के कला-सम्बन्धी कौतुहल और अनुराग का परिचय पा लेना चाहा। शायद वे अतिथि के कला-सम्बन्धी ज्ञान के स्तर के अनुसार ही बात करते थे।

मेरे मन में अब भी कौतुहल है कि पंडित नेहरू ने कलाकार रोरिक से कला के सम्बन्ध में क्या बातचीत की होगी ? कला के सम्बन्ध में पंडित नेहरू के ज्ञान और विचारों को एक कला-प्रदर्शनी का उद्घाटन करते समय उन के भाषण से जान सका हूँ। सन १९४४ या ४५ की बात है। पंडित जी लखनऊ में चित्रकार 'ईश्वर' के चित्रों की प्रदर्शनी का उद्घाटन कर रहे थे। पंडित जी ने श्रोताओं को समझाया था—"कुछ लोग आर्ट का मतलब कला लगाते हैं लेकिन यह ग़लत है। आर्ट कला नहीं है, आर्ट तो बहुत बड़ी चीज़ है। कुछ लोग अजन्ता के चित्रों को ही बहुत बड़ा आर्ट समझ लेते हैं। मैंने भी अजन्ता के चित्रों को देखा है लेकिन मुझे तो उन तस्वीरों में", पंडित जी ने अपनी बाहों और आँखों से नाट्य करके बताया, "टेढ़ी-मेढ़ी बाहों और आँखों में कोई आर्ट दिखाई नहीं दिया। आर्ट एक बहुत बड़ी चीज है जो हमें इटली और फ्रांस के बड़े-बड़े आर्टिस्टों के पेन्टिंग में मिलता है। वह चीज़ मुझे अभी हिन्दुस्तान में कहीं नहीं दिखाई देती····।"

हम लोगों के पहुँचने से पहले चित्रों के दिखाने की व्यवस्था तैयार थी। हमारे बैठने के कोच के सामने चित्र दिखाने की एक टिकटकी पर एक भारतीय युवती का तैल चित्र पहले से रखा हुआ था। मैं उस चित्र को बहुत देर तक देखता रहा। रोरिक ने बताया कि वह उन के पुत्र का बनाया तैल चित्र था। चित्र इतना सप्राण जान पड़ता था, विशेषत: आँखों और ओठों की भावभंगी कि मानो युवती कुछ कहकर उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है, अभी बोल उठेगी या खड़ी हो जायगी।

इसके बाद स्वयं रोरिक के बनाये लगभग ५०-६० चित्र देखे। अधिकांश चित्र हिमाच्छादित पर्वत शृंगों के थे। यह चित्र रोरिक ने पहाड़ो-पहाड़ बर्मा से दार्जिलिंग और दार्जिलिंग से कुल्लू की यात्रा करते समय या उनकी स्मृति से बनाये थे। उनके चित्रों में मानव भाव (ह्यूमन एलेमेंट) बहुत कम दिखाई दिया। वैसे चित्र केवल तीन ही दिखाई दिये। उनमें से एक नार्वे की किसी झील का था। दो और विश्व-शान्ति के संकेत सम्बन्धी थे।

चित्रों को टिकटकी पर रखने और उतारने का काम वर्दी पहने अर्दली कर रहे थे। चित्रों के सम्बन्ध में बातचीत भी चलती जा रही थी। मैं चित्रों में मानव-भाव की कमी की बात कहे बिना न रह सका—"मुझे तो सूर्योदय या सूर्यास्त से दीप्त बर्फानी चोटी की अपेक्षा झोपड़ियों के झुण्ड का चित्र, जिसमें आदमी दिखाई दें ज्यादा मर्मस्पर्शी जान पड़ता है।"

कलाकार को मेरी बात से क्षोभ नहीं हुआ। इस विषय पर कुछ बातचीत हुई। 'पिकासो' का भी जिक्र आया। उन्हों ने अपने पुराने चित्रों के एलबम मंगा फर दिखाये। कुछ की छपी हुई, छोटी प्रतियाँ भेंट भी कर दीं। वे राजनीति पर बात करना नहीं चाहते थे। रूस की आधुनिक व्यवस्था के प्रति उन्हों ने गर्व से कहा—"रूस एक महान राष्ट्र है और उसकी क्रान्ति मानवता के विकास के प्रति बड़ी भारी देन है।"

निकोलस रोरिक बैरन होकर भी कलाकार की भावना से ओत-प्रोत थे इसलिये उपरोक्त बात कह सकते थे लेकिन बैरोनेस या काउण्टेस रोरिक (रोरिक की पत्नी) का दृष्टिकोण दूसरा ही था। यह बात नग्गर में नीचे मित्र के यहाँ लौटने पर पता लगी।

मित्र ने पूछा—"रोरिक की पत्नी तो आप से मिली नहीं होंगी ?"

हमारे हामी भरने पर उन्हों ने बताया कि वह किसी से नहीं मिलतीं।

वे रूस के ज़ार की बहिन हैं । उनके आत्म-सम्मान सम्बंधी संस्कार यह सहन ही नहीं कर सकते हैं कि सर्व-साधारण वंश के लोग, समानभाव और स्थिति में उनके सामने घूमते फिरें । इस महल में आने के बाद वे एक ही बार कुल्लू-मनाली सड़क पर घूमने गई थीं । वहां साधारण अंग्रेज़ों या भारतवासियों को अपने सामने निरपेक्ष आते-जाते देख कर उन्हों ने इतना अपमानित अनुभव किया कि फिर वे अपने महल या कोठी की चारदीवारी से कभी बाहर नहीं निकलीं । श्रीमती रोरिक अपनी सहचरियों या सैक्रेटरी के रूप में साथ दो रूसी या योरूपियन महिलाओं को तनखाह देकर लाई हुई थीं । वे ही उनकी एक-मात्र संगति थीं । बाहर निकलने की उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं थी । सभी आवश्यकताओं को पूरा करने का उनका अपना स्वतन्त्र प्रबन्ध था शायद अपनी बिजली भी थी । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यह भी एक रूप है--अपने आपको दूसरे मनुष्यों से भिन्न और ऊंचा माने रहने के लिये कैद स्वीकार कर लेना ।

रोरिक ने अपने बाग के कुछ सेव भी खिलाये । सेव देखने में बिलकुल हरे या कच्चे जान पड़ रहे थे परन्तु सेवों में वैसी सुगन्ध और कहीं नहीं देखी । दस-बारह सेवों के सम्बन्ध में उन्हों ने बताया कि उनमें से कोई पौधा आस्ट्रेलिया से कोई कैलीफोर्निया से कोई फ्रांस और इटली से मँगाया गया था । कुछ देर तक रोरिक के महल से प्राकृतिक सौन्दर्य को देखते रहने के बाद मैं कहे बिना न रह सका--मैंने कश्मीर के कुछ भाग, कुमायूं की पहाड़ियाँ, मंसूरी, शिमला, दार्जिलिंग और शिलांग थोड़ा बहुत देखा ही है लेकिन प्रकृति में, रंगों और दृश्यों का ऐसा वैचित्र्य और समन्वय कहीं नहीं देखा, आपने यह स्थान कैसे चुना ?"

मेरे कौतूहल की तृप्ति के लिये उन्हों ने बताया--बर्मा से पहाड़ो-पहाड़ दार्जिलिंग और दार्जिलिंग से भी हिमालय के भीतर ही भीतर अपने काफिले को लेकर यात्रा करते हुये जब वे नग्गर पहुँचे तो इसी मकान के समीप अपना खेमा लगाया था । जगह उन्हें इतनी पसन्द आ गई थी कि आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया । उन्हों ने इस मकान और इसके साथ की भूमि को खरीद लेने का विचार प्रकट किया । उन्हें बताया गया कि इस मकान को खरीद लेना सम्भव नहीं । मकान मण्डी के राजा का है ।

रोरिक स्वयं मण्डी में राजा के पास पहुँचे और राजा से बात की--"मैं तुम्हारा मकान और उसके साथ की भूमि खरीदना चाहता हूँ ।"

राजा ने विस्मय से रोरिक की ओर देखा—"मेरा मकान खरीदना चाहते हो ?"

"हाँ, क्या क़ीमत चाहते हैं आप ?"

राजा ने अपने विचार में एक बड़ी क़ीमत बता दी और रोरिक ने तुरन्त एक चेक दे दिया। उन का हिसाब पेरिस, न्यूयार्क और बम्बई के बैंकों में मौजूद था।

कुल्लू से लौटने के कुछ दिन बाद देहली जाने पर रूसी समाचार एजेंसी 'तास' के प्रतिनिधि कामरेड ग्लाडीशेव से मिलने का अवसर हुआ। मैंने बातचीत में निकोलस रोरिक की कला की प्रशंसा की।

कामरेड ग्लाडीशेव ने रोरिक की कला के लिये आदर प्रकट कर इतना और कहा—"जो अवसर पहले केवल रोरिक की स्थिति के व्यक्ति के लिये ही सम्भव था, अब रूस में सभी लोगों के लिये है। अब हज़ारों निकोलस रोरिक हमारे देश में विकास कर सकेंगे !"

४

नादिरशाही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

इस साल १९५० की गर्मियों में अल्मोड़ा के जिस बंगले में जगह पाकर ठहरा हूँ, उस के ठीक सामने सड़क के दूसरी ओर यहाँ की सब से बड़ी और शानदार दुकान है। आधुनिक सभ्यता ने जिन नई वस्तुओं का उपयोग हमें सिखा दिया है, प्राय: वे सब यहाँ मिल सकती हैं। अल्मोड़ा ज़िले और देहात के लोग साधारणत: इन वस्तुओं के उपयोग से अनजान हैं। हाँ, इस शहर के शिक्षित लोग इन वस्तुओं का व्यवहार करने लगे हैं। अधिकांश में यह दुकान और अल्मोड़ा की दूसरी ऐसी बड़ी-बड़ी दुकानें मैदानों के कारोबार से गूंजते, बड़े-बड़े परन्तु गर्मियों में अत्यन्त असुविधाजनक हो जाने वाले नगरों से कुछ दिन के लिये यहाँ आने वाले लोगों की आवश्यकता पूर्ति करती हैं। अपने रहने की जगह के ठीक सामने और बहुत समीप इस दुकान पर मैं प्राय: आता-जाता रहता हूँ। बड़ी सुविधा है, बैठकर लिखते समय भी यदि सिगरेट-तम्बाकू चूक जाये तो ऐसा ही समझिये कि उठकर दूसरे कमरे से ले लिया; उधार भी चलता है।

उस दिन सिगरेट का कागज़ समाप्त हो जाने पर उठकर सामने दुकान पर चला गया था। 'लछमन' को भी कागज़ ले आने के लिये कह दे सकता था; उठ जाने से ज़रा कमर सीधी कर पाने का बहाना हो जाता है। दुकान के मालिक 'साह जी' इस जिले के गिने-चुने लखपतियों में से हैं परन्तु ग्राहकों को आदर और बड़प्पन का सन्तोष देने के लिये उन्हें 'शैब'! (साहब) और 'हुज़ूर' सम्बोधन करते हैं। इस में उन का कुछ घिसता नहीं, ग्राहक को इस दुकान पर आना-जाना अच्छा लगता है। दुकान पर गया तो विलायती शराब के नये आये बक्से अभी खोले जा रहे थे। स्काच ह्विस्की और फ्रेंच-वाइन की बोतलों से फ़र्श भरा हुआ था। अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद से यह चीज़ें दुर्लभ-प्राय: हो गई हैं।

"वाह साह जी, यह कहाँ से मँगा लिया ?" साह जी से बात चलने के अभिप्राय से पूछा।

"आप शैब लोगों के लिये फिर मँगाना ही पड़ता है कहीं शे।" आत्मीयता से साह जी ने उत्तर दिया, "आप के लिये भी दो भिजवा दूं ? इस दफ़े मिल गई हैं, फिर कहाँ मिलती हैं ?"

यह साह जी की ओर से पड़ोसी के प्रति सौजन्य का प्रदर्शन ही था; वर्ना इस समय 'स्काच' के लिये उन्हें ग्राहक ढूंढ़ने नहीं जाना पड़ेगा। लोग खुशामद कर, अहसान मानकर ले जाते हैं। दाम पूछ लेने में क्या हरज था; अवसर पर कोई भी दुष्प्राय वस्तु उपयोगी हो सकती है।

"पैंतालीस रुपये" साह जी ने धीमे से होंठ हिला दिये; यानि एक बोतल के दाम।

"नहीं साह जी, बस कृपा है आप की। चार-छ: घण्टे बेवक़ूफ़ बनने के लिये पैंतालीस रुपये ख़र्च करना मंजूर नहीं। दो बोतल के दाम में तो हमारे जैसे ग़रीब का महीने भर का गुज़ारा चलना चाहिये !"

"बहुत ठीक कहा आपने, सचमुच !" साह जी ने समर्थन की मुस्कान से जवाब दिया, "क्या फ़ायदा होता है इश शे ? पर लोगों को चाहिये तो मंगानी पड़ती है। अपने को तो बेचने शे मतलब है !" अधिक सच तो होता यदि साह जी कहते—हमें मतलब है मुनाफ़े से, लोग ज़हर पियें चाहे दूध ! मुनाफ़ा कमा सकना हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है।

"गुडमार्निंग" पीछे यानि दुकान में प्रवेश करने के दरवाज़े से सुनाई दिया। घूमकर देखा, नीले रंग के मामूली जान पड़ने वाले कपड़े की ढीली-ढाली 'बुश-शर्ट' और फलालैन की पतलून पहने लम्ब-तड़ंग दक्षिणी-अमरीकी साहब मुस्कराते हुये भीतर चले आ रहे थे। एक बुझी हुई बीड़ी उन के दाँतों में दबी हुई थी। अल्मोड़ा के लोगों में इन साहब की सादगी और सिधाई का काफ़ी चर्चा है। दुकान के दरवाज़े के सामने उन की नीले रंग की 'फ्लीट-मास्टर' शेवरले कार खड़ी थी। कई दिन पूर्व ही साहब से परिचय हो चुका था। सड़क पर आमना-सामना होने पर मुस्कान से पहचान भी प्रकट की जाती थी।

"इस समय कैसे आना हुआ ?" पूछा।

"खाली था !" साहब ने उपेक्षा से हाथ हिलाकर उत्तर दिया, "खयाल

आया, सिगरेट ले आऊँ।" साहब ने साह जी को सम्बोधन किया, "दो डिब्बे मैक्रोपोलो-एक्सट्रा स्पेशल !"

साहब बीड़ी पीने के लिये प्रसिद्ध हैं, इतनी सादगी ! समझा कि साहब बीड़ी पीते हैं सड़क पर या हिन्दुस्तानी मेहमानों के सामने। घर में शायद 'मैक्रोपोलो' का ही व्यवहार करते हैं। दिखावे के भी कितने भिन्न-भिन्न पहलू हैं। अपने कुछ परिचित हैं जो दफ्तर जाते समय कुछ सिगरेट साथ ले लेते हैं, घर में बीड़ी से ही निर्वाह करते हैं। कुछ लोगों को प्रतिष्ठा के लिये सूट पहनना पड़ता है और कुछ को इसी प्रयोजन से लंगोटी या अंगोछा ?

साहब का ध्यान भी फर्श पर फैली बोतलों की ओर गया। "ओहो, यह कब आया ? कुछ हमें भी दो !" उन्हों ने साह जी को सम्बोधन किया। साह जी के अनुमति प्रकट करने पर साहब ने सुविधा से एक दर्जन स्काच और एक दर्जन फ्रेंच-वाइन की माँग कर दी।

"अभी आप चार-चार ले लीजिये ! फिर और मंगा देंगे। बहुत से लोगों की माँग है। एक-एक दो-दो उन्हें भी देनी होंगी।" साह जी ने विवशता की मुस्कान से साहब पर एहसान सा लादते हुए समझौता कर लिया। आठ बोतलें साहब की कार में रख दी गईं। उनके दुकान से निकलते ही साह जी ने धीमे स्वर में अपने सहयोगी को हिदायत दी--"एक ही आदमी को सब कैसे दे डालें ? इन बोतलों को उठवा दो न। जो आयेगा, माँगेगा। इतने से कितनों के मुँह बन्द करने होंगे; कोई अफसर ही माँग बैठता है कभी।"

साहब के हंसते-हंसते एक हजार रुपये की शराब खरीद लेने से मुझे ईर्षा नहीं है। मुझे इस बात से भी ईर्षा नहीं कि घर में चार-पाँच नौकर होते हुए भी साहब सिगरेट खरीदने के बहाने आलस झाड़ने आते हैं तो इतनी बड़ी कार में। दो मील तक पैट्रोल फूंक कर आते हैं तो सिगरेट का पाँच रुपये का डिब्बा छ: रुपये का बन जाता है। वे रुपया फूँकते हैं तो अपना। आप कहेंगे, भगवान ने उन्हें दिया है। साहब हैं भी बड़े भगवत प्रेमी। भगवान की खोज में ही अर्जेण्टाइना से भारत आये हैं। उनकी राय में भगवान का निवास भारत में ही है। यह साहब आध्यात्मवादी हैं, प्राय: विवेकानन्दी साधुओं को निमंत्रण दे भोजन कराते रहते हैं और आध्यात्म की शतरंजी चालों की चर्चा करते रहते हैं।

एक दिन चौथे पहर एक मित्र के साथ घूमते-घामते इन अर्जेण्टाइनी साहब

के बंगले पर जा पहुंचे थे। उन दिनों कोरिया की लड़ाई ताज़ी-ताज़ी छिड़ी थी। सब ओर उसी की चर्चा थी। 'मित्र' जरा मुंहफट हैं। साहब की ही प्याली में, उनकी ही चाय पीते-पीते बोल उठे—"दक्षिण और उत्तर कोरिया वाले आपस में लड़ रहे थे, लड़ने देते। अमरीका क्यों बीच में कूद पड़ा ? रूस का व्यवहार न्यायोचित रहा। पिछले युद्ध के बाद जापान से कोरिया को छीन कर रूस और अमरीका में बांट दिया गया था। रूस तो १९४६ में ही कोरिया को अपने पांव पर खड़ा कर लौट गया....।"

अर्जेण्टाइनी साहब ने कुछ उग्रता से उत्तर दिया—"यह तो रूसी प्रोपेगैण्डा है। यह लड़ाई दक्षिण और उत्तर कोरिया की नहीं, यह तो संसार की सभ्यता और प्रजातन्त्रवाद पर कम्युनिज्म का हमला है। इस लड़ाई में अमरीका का कोई स्वार्थ नहीं परन्तु संसार के निर्बल देशों और प्रजातन्त्र की रक्षा करना अमरीका और सभी देशों का कर्तव्य है...." साहब कुछ और तेज हुए, "यह मानवता और व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता के अधिकारों पर कम्युनिज्म की तानाशाही का भयंकर हमला है। कम्युनिज्म का यह हमला सड़क दबाने वाले इंजन की तरह बर्बर शक्तियों से संसार की संस्कृति को कुचल डालना चाहता है। आप लोग नहीं जानते, पूर्वी योरुप में कम्युनिज्म जनता की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छीन कर कितना भयंकर दमन कर रहा है ? आप लोग खुशकिस्मत हैं कि कम्युनिज्म का राक्षस आपकी सीमा से दूर है परन्तु इस राक्षस की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिये सभी राष्ट्रों को सावधान रहना चाहिये, उसमें सहयोग देना चाहिए !"

हमारे मित्र भी तेज हो गये—"जी हां, अमरीका कोरिया में हवाई जहाजों से व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्रजातन्त्र बरसा रहा है ? स्वतन्त्रता और समता दूसरे देशों पर हमला करके कायम की जा सकती है ? अमरीका में ही कितने लोग व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के अधिकार भोग रहे हैं, जो आप इन चीजों की वर्षा दूसरे लोगों पर करने कोरिया पहुंचे ?...."

साहब दम भर रहे थे कि वे पूर्वी यूरुप में जा कर जनता की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रजातंत्र का दमन अपनी आँखों देख आये हैं। भारतवासी उस अत्याचार की कल्पना भी नहीं कर सकते। बात कड़वी होती जा रही थी परन्तु मैं इतना कहे बिना न रह सका कि यदि भारत को ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का आदर्श समझा जाय तो हमारा अपना अनुभव

तो उत्साहजनक नहीं।

साहब ने फिर अपनी बात दोहराई—" "ऐसी बात तुम इसीलिये कह रहे हो कि तुमने व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता के अपहरण का स्वाद नहीं जाना !"

वहाँ से उठ आये परन्तु तब से मैं व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता के बारे में निरंतर सोचता रहा हूँ। अपनी आयु का बड़ा भाग मैंने इस देश की पराधीनता में गुजारा है। अन्य स्वदेशवासियों की तरह मैंने भी देश की पराधीनता या स्वतन्त्रता की चिन्ता की है। बात को दोहराने से क्या लाभ ? स्वतन्त्रता की चाह में मैंने कांग्रेस की पुकार पर कालेज से असहयोग किया और फिर चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह के साथ प्राणों तक की बाजी लगा दी थी इसलिये जब स्वतन्त्रता की चर्चा चलती है, मैं गम्भीरता से सोचे बिना नहीं रह सकता कि स्वतन्त्रता के रूप में हमने क्या पाया और क्या पाने की आशा की जा सकती है ?

देश की स्वतंत्रता और व्यक्तिगत-स्वतंत्रता को मैं भिन्न-भिन्न नहीं समझ सकता। इस देश की स्वतंत्रता से अभिप्राय हिमालय, विन्ध्याचल और गंगा-यमुना की स्वतंत्रता नहीं, इस देश के व्यक्तियों की स्वतंत्रता ही होना चाहिये। १९४७ में स्वराज्य या स्वतंत्रता की घोषणा से मैंने और मेरे जैसे दूसरे लोगों ने इस देश के व्यक्तियों की स्वतंत्रता ही समझा था। उस स्वतंत्रता को कभी अनुभव नहीं कर पाये; सदा उस का अभाव ही अनुभव किया परन्तु आज यह विदेशी भद्र पुरुष मुझे और मुझ जैसे भारतवासियों को सुझा रहा है कि मैं या इस देश के वासी बहुत भाग्यवान हैं। इतना ही नहीं, हम लोग कृतघ्न भी हैं जो अपनी व्यक्तिगत-स्वतंत्रता का मूल्य नहीं आँक रहे हैं। मुझे आर्थिक स्वतंत्रता के बिना किसी भी स्वतंत्रता का कोई उपयोग नहीं जान पड़ता।

इस देश में यह विदेशी अमरीकी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता अनुभव कर रहा है, मैं और मेरे जैसे इस देश के दूसरे लोग पराधीनता और बन्धन ही अनुभव कर रहे हैं। कुछ वर्ष पूर्व इस अन्तर का कारण सीधा-साधा जान पड़ता था। विदेशी शासन के समय विदेशी राजा था और हम लोग उसकी प्रजा थे। आज वह उत्तर समाधान नहीं कर सकता। हमारे नये विधान के अनुसार भारत महामहिम, सर्वसत्ता सम्पन्न और पूर्ण स्वतन्त्र है परन्तु हम लोग भारत की प्रजा क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत दिन बाद दिया पंडित नेहरू ने। उन्हों ने समझाया—भारत एक महान और सम्पन्न देश है। यह बात दूसरी है कि

यहाँ कि प्रजा बहुत गरीब है। काश, पंडित जी बता देते कि इस महान देश की सम्पत्ति किस के लिये है ?

इस विदेशी अमरीकन का यहाँ पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अनुभव करना झूठ नहीं। कुछ सप्ताह बाद उसे सहसा कश्मीर देख आने की इच्छा हुई। अपने एक स्थानीय मित्र पति-पत्नी को लेकर वह अपनी पत्नी सहित अपनी बड़ी मोटर में तुरन्त देहली चला गया और वहाँ से उनका दल कश्मीर उड़ गया। दो सप्ताह बाद कश्मीर का आनन्द लेकर लौट भी आया। वह नित्य शौकिया मोटर पर पचास-साठ मील दौड़ता रहता है परन्तु यहाँ हमारे पड़ोस में जंगलात के चपरासी 'चतुरिया' को 'कौसानी' में एकलौते लड़के की बीमारी का समाचार मिला तो वह उसे देखने भी न जा सका। छुट्टी केवल दो दिन की मिल सकती थी। सफर बयालीस मील का है। पैदल आ-जाकर समय पर लौटना सम्भव नहीं, मोटर का किराया वह दे नहीं सकता। मोटर का मालिक उसे मुफ्त कैसे ले जाये ? पैट्रोल जलता है, मोटर का टायर घिसता है और मालिक को कुछ मुनाफ़ा चाहिये। चतुरिया भगवान पर भरोसा कर चुप रह गया। बस, इस स्वतंत्र देश में चतुरिया जैसे लोगों की यही व्यक्तिगत स्वतंत्रता है।

अल्मोड़ा में गाँव की आबादी और बहुत से शरणार्थियों के सिमिट आने के कारण मकानों और जगहों की बड़ी तंगी अनुभव हो रही है। इस भले आदमी ने यहाँ आकर व्यक्तिगत-स्वतंत्रता से डेढ़ हज़ार रुपया सीज़न का किराया एक साथ देकर बहुत बड़ी कोठी ले ली है। इसे कोठी के रंग-रोगन पसन्द नहीं थे। उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अपने खर्च पर सब बदलवा कर अपने चाव माफ़िक करवा लिया है। उससे मिलते-जुलते रहने वाले लोगों से सुना है कि अर्जेण्टाइना में उसका पशुओं का व्यापार है। वह यहां व्यक्तिगत स्वतंत्रता पूर्वक आध्यात्मिक विकास और मोक्ष की चिन्ता कर सकता है। अर्जेण्टाइना में उस के नौकर अपना पेट भर पाने की मजबूरी में उसका कारोबार चला कर प्रतिमास बीस हजार रुपया भेजते रहते हैं। अमरीका की सु-व्यवस्थित, न्यायप्रिय सरकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के कानूनों द्वारा उस के हित की रक्षा अर्जेण्टाइना में कर रही है। वह हर बात में व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र है। उस के बच्चे या तो अमेरिका के बोर्डिंग में या इंगलैंड के सब से अच्छे स्कूलों में पढ़ रहे होंगे। यदि अनाज, घी-दूध और सभी वस्तुयें आज से दसगुनी

और मंहगी हो जायें तो भी उस की किसी आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति मे बाधा नहीं अनुभव हो सकती क्योंकि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अपने पशुओं और अपने कारखाने में तैयार होने वाले माँस की कीमत दस की जगह पन्द्रह गुणा बढ़ा सकता है। जब बाधा नहीं तो स्वतन्त्रता ही है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ यदि मनमानी करने की उच्छृङ्खलता न मान लिया जाये तो उसका अर्थ होना चाहिए सुख से जीवित रह सकने और उन्नति के लिए प्रयत्न कर सकने के अवसर और साधन होना। ऐसा कर सकने का अवसर ओर साधन न होना ही परवशता और बाधा है। मैं चारों ओर हर बात में बाधा ही अनुभव करता हूँ, स्वतन्त्रता नहीं। आपका अनुभव भी शायद बाधाओं का ही है, स्वतन्त्रता किसी बात की नहीं! अपनी अपेक्षा अधिक अवसरहीन या गिरी हुई आर्थिक अवस्था के लोगों को और भी अधिक बाधा-बाधित और स्वतन्त्रताहीन देखता हूँ। उन्हें किसी भी बात की, पेट भरने की, बीमारी में दवाई खा सकने की, अपनी सन्तान को शिक्षा देने की स्वतन्त्रता नही है। हमारे अर्जेण्टाइनी महोदय और उन जैसे दूसरे लोग कहेंगे, स्वतन्त्रता तो सभी को है, वे इसके लिए साधन और सामर्थ्य पाने के चेष्टा क्यों नहीं करते ? मैं देखता हूँ और आप स्वीकार करेंगे कि साधनों के अभाव में चेष्टा करने का भी अवसर नहीं रहता। किसी के हाथ में अवसर नहीं रहता। किसी के हाथ में अवसर और साधनों का न होना ही तो पराधीनता है। पेट भर कर खाना और अपने बच्चों को खिलाना कौन नहीं चाहता ? बीमार होने पर दवाई की इच्छा किसे नहीं होती ? परन्तु दवाई तो बहुत बड़े ताले के भीतर बन्द रहती है। यह ताला अच्छी रकम या साधनों के मालिक का है। साधनों का मालिक अपने लिये मुनाफा पाये बिना मुझ या आप को आवश्यक दवाई नहीं लेने देगा।

साधनों के मालिक को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है कि मेरे और आप के कष्ट से लाभ उठा कर अपनी दुकान में रखी दवाई पर मनचाहा मुनाफा कमा ले। मुझे या आपको रोग में आवश्यकता होने पर दवाई पा सकने की व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता नहीं है। हम लोग यदि दवाई छीनकर प्राण-रक्षा करना चाहें तो दवाई के साधन-सम्पन्न व्यापारी के मुनाफा कमाने के व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा के लिये पुलिस हथियार लेकर खड़ी है। पुलिस के काम का दूसरा पहलू है, आवश्यकता होने पर दवाई छीनने का यत्न करने की मेरी व्यक्तिगत

इच्छा को रोकना। मुझे दवाई के व्यापारी से आवश्यक दवाई छीन लेने की व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता नहीं परन्तु दवाई के व्यापारी को मेरे परिवार के निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक पैसा, मुनाफे के नाम पर मेरी जेब से छीन लेने की व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता है। छीनने के दो ढंग हैं। एक ढंग है, साधनहीन लोगों के लिये सम्भव, अपने शरीर की शक्ति से थप्पड़ या लाठी मार कर छीनने का तरीका। यह तरीका पूंजीवादी व्यवस्था में गैरकानूनी माना जाता है। दूसरा तरीका है भूखा मार कर मुनाफ़े के रूप में उनकी कमाई छीन लेने का। छीनने का यह तरीका पूंजीवादी व्यवस्था में कानूनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता समझी जाती है।

पैदावार के साधनों पर अपना व्यक्तिगत शासन जमा लेने वाला या पूँजी के बल से अपनी व्यक्तिगत-स्वतंत्रता को समाज और समाज के दूसरे व्यक्तियों के दमन का साधन बना लेने वाला व्यक्ति क्या कर सकता है, इसका एक और उदाहरण अलमोड़ा के अतिथि, इन दक्षिण अमरीकी सज्जन ने दिखाया—अलमोड़ा की एक बड़ी और जनप्रिय शिक्षा संस्था में विद्यार्थियों के बढ़ जाने के कारण एक दूसरी इमारत की अनिवार्य आवश्यकता हो रही थी। अवसर से एक अच्छा और बड़ा बंगला इसी समय बिकाऊ हो गया। संस्था ने इस बंगले का उचित मूल्य देने का जुगाड़ भी कर लिया परन्तु सौदा हो जाने से पहले दक्षिण अमरीकी सज्जन का दलाल बंगले के मालिक के पास जा पहुंचे और उस के मुँह माँगे दाम से ड्योढ़ा देने की बात कह कर कालिज का सौदा बिगाड़ दिया। इन दक्षिण अमरीकी सज्जन की तरह इस देश के पूंजीपतियों को भी इस प्रकार की पूर्ण व्यक्तिगत-स्वतंत्रता है। पूंजीवादी न्याय की दृष्टि में समाज और देश के हज़ारों बच्चों की शिक्षा और उनके भविष्य निर्माण की अपेक्षा पूँजीपति के चाव का महत्व अधिक है। इसी बात का और व्यापक उदाहरण आज इस देश की चीनी और कपड़े की मिलों के मालिकों का व्यवहार है। देश नंगा है परन्तु उन्हें स्वतंत्रता है कि बाजार में कपड़े का भाव गिरने न देने के लिये अपनी मिलों को निठल्ला रख सकें। रामराजी नैतिकता में सम्पत्ति पर इन पूँजीपतियों के व्यक्तिगत अधिकार का मूल्य जनता का अंग ढकने से अधिक है। साधनों और पूंजी का स्वामित्व यदि मनमानी करने का अवसर न दे तो पूंजी समेटने का झंझट ही क्यों किया जाये?

नागरिक जीवन के प्रतिदिन के अनुभव से उदाहरण लीजिये। मिल मालिक

'क्ष' की मिलों में दस हजार मजदूर काम करते हैं। इसी बात को यों कहा जा सकता है कि मिल मालिक 'क्ष' के हाथ में दस हजार मजदूरों को पेट भर सकने का अवसर देने और न देने के अधिकार की कुंजी है। इन दस हजार मजदूरों और 'क्ष' की व्यक्तिगत शक्ति या स्वतन्त्रता में क्या समता हो सकती है? इसी प्रकार जमीन के मालिक जमीन्दार और उस की भूमि पर जमींदार की अनुमति से, जमीन्दार को अपनी कमाई का हिस्सा देने की शर्त पर खेती करने वाले किसानों की व्यक्तिगत शक्ति और स्वतन्त्रता और जमीन्दार की शक्ति और स्वतन्त्रता में क्या समता हो सकती थी?

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों और अवसर का होना ही व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता मान लिया जाय तो इस स्वतन्त्रता के लिये व्यक्ति को दुतरफा मोर्चा लेना पड़ता है। पहले तो व्यक्ति या मनुष्य को प्रकृति से मोर्चा लेना पड़ता है। प्रकृति से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की सामग्री लेना, प्राकृतिक भय--जंगली जीवों, वर्षा, बाढ़ और आग से अपने आप को बचाना और इन प्राकृतिक शक्तियों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के काम में लगाना। इस मोर्चे पर मनुष्य-समाज व्यक्तिगत रूप से नहीं, सामूहिक और सामाजिक रूप में लड़ता है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास का अर्थ यही है कि वह प्रकृति की तुलना में सामर्थ्यवान और सशक्त होता चला जाता है, अपने उपयोग के लिये प्रकृति को वश करता चला जाता है। प्रकृति के विरुद्ध सामूहिक रूप से मोर्चा जीत कर व्यक्ति के सामने समाज में स्वतन्त्रता पाने की समस्या आ जाती है। मनुष्य-समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की समता तभी सम्भव हो सकती है, जब जीवन की आवश्यकता पूर्ति के साधनों और अवसर की समानता हो। समाज के साधनों के स्वामित्व और बँटवारे में यदि विषमता होगी तो कुछ लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बढ़ जायगी और साधन-हीन बना दिये जाने वालों की घट जायगी। साधनवान लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता यों बढ़ जायगी कि प्राकृतिक साधनों को अपनी आवश्यकता पूर्ति के काम में लगाने के साथ-साथ यह लोग साधनहीन लोगों को भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति करने के लिये विवश या बाधित कर सकेंगे।

मनुष्य-समाज में व्यक्तियों की शक्ति या स्वतन्त्रता का अन्दाजा समाज के दूसरे व्यक्तियों से उन के सम्बन्ध या दूसरे व्यक्तियों पर उन की शक्ति के प्रभाव से ही लगाया जा सकता है। मालिक के अधिकार और शक्ति तभी

अनुभव किये जा सकते हैं जब उस के एक-दो नौकर हों। नौकर या मज़दूर को अपनी शक्ति और स्वतन्त्रता की सीमा तभी अनुभव होती है जब उस की आवश्यकतायें पूरी न हो सकें या उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध व्यवहार करने के लिये विवश होना पड़े। साधनों के मालिकों की शक्ति, सामर्थ्य और अधिकारों का उपयोग हो सकने के लिये समाज में साधनहीनों की बहुत बड़ी संख्या का होना आवश्यक है। पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था और शासन-प्रणाली समाज में वर्तमान ऐसी अवस्था (वैयक्तिक स्वतन्त्रता) को यथावत रखने के प्रयोजन और उद्देश्य को ही नैतिकता और न्याय का नाम देती है। इस शासन-व्यवस्था और सामाजिक नैतिकता में साधनों की विषमता को ईश्वरीय न्याय के रूप में सुरक्षित रखकर समता, व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की बात की जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था में साधनों या सम्पत्ति पर स्वामित्व सब से पवित्र अधिकार माना जाता है इसलिये इस व्यवस्था में कानूनी समता, व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का लक्ष्य व्यक्तियों के साधनों की विषमता के अधिकार की रक्षा करना है। पूंजीवादी व्यवस्था सर्व-साधारण जनता के घुटने तोड़कर अर्थात उन्हें साधनहीन बनाकर और कुछ व्यक्तियों को घोड़े या मोटर पर चढ़ने अर्थात असीम साधन बढ़ा लेने का अवसर देकर अपनी व्यवस्था को प्रजातन्त्र, समता और व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता का नाम दे देती है।

पूंजीवादी-प्रजातन्त्र और व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता की व्यवस्था के अनुसार देश के सभी व्यक्तियों को देश के शासन में भाग लेने की समान कानूनी स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता की वास्तविकता क्या है? शासन की नीति निश्चय करने का अधिकार मिलता है, चुनाव जीत लेने से। चुनाव लड़ने के लिये कैसे और कितने साधनों की आवश्यकता होती है, यह बात अब इस देश के सर्व-साधारण जानने लगे हैं। चुनाव के सम्बन्ध में समता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की स्थिति इस देश में यह है कि यदि एक लाख साधनहीन भी मिलकर एक व्यक्ति के लिये चुनाव के पर्याप्त साधन जुटाना चाहें तो सम्भव नहीं। दूसरी ओर अनेक पूंजीपति इस शतरंज में प्यादों की मनचाही संख्या लड़ा सकते हैं और अपनी शह देकर जिस प्यादे को चाहें, वज़ीर बना दे सकते हैं। पूंजीपति की इस व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता का आधार साधनहीनों की परवशता नहीं तो क्या है?

पूंजीवादी शासन-व्यवस्था या सभी शोषक शासन-व्यवस्थाओं की नीति

का आधार यह है कि उत्पादक अर्थात पैदावार के लिये श्रम करने वाली बहु-संख्यक जनता परवश और असहाय बनी रहे; वर्ना उन का शोषण किया कैसे जायगा ? प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली में शासन की नीति निश्चित करने का अवसर तो है चुनाव लड़ या लड़ा सकने वाले गठरीपतियों के हाथ में परन्तु शासन का खर्च कौन देता है ? यह सब खर्च प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष उपायों से, करों के रूप में शोषित प्रजा ही देती है। किसान दस हाथ ज़मीन में अन्न उपजाने से लेकर ताड़ के पेड़ और बकरी पाल सकने तक के लिये कर देता है। बीड़ी से लेकर लँगोटी का कपड़ा खरीदते समय, एक्साइज़ से लेकर बिक्री-टैक्स (सेलटैक्स) के रूप में मज़दूर कर भरता है। यह पूंजीवादी शासन का चातुर्य है कि कर देने का श्रेय गठरीपतियों के ही सिर बाँध दिया जाता है परन्तु यह सब कर साधनहीन प्रजा से उगाह लेने का अवसर गठरीपतियों की सरकार गठरीपतियों को दे देती है। कर का नाम रखा जाता है 'बिक्रीकर' (सेलटैक्स) और कर भरता है खरीदने वाला साधनहीन। कोई भी कर बढ़ते ही बोझ खरीदार की जेब पर खिसका दिया जाता है। किसान, मज़दूर और साधनहीन करों के रूप में भारी-भरकम सरकार का खर्चा निबाहने के बाद सरकार के खर्च की नीति के बारे में ज़बान नहीं हिला सकता। इस नीति को चुनाव में अपने प्यादे लड़ा सकने वाला पूंजीपति निश्चित करता है। यह हैं पूंजीवादी प्रजातन्त्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दो रूप !

सरकार का सब से बड़ा काम देश में शान्ति और सुव्यवस्था की रक्षा करना है। सुव्यवस्था का अर्थ है, कोई दूसरे की सम्पत्ति या साधनों को न छीन सके। इस का व्यवहारिक परिणाम साधनहीनों से साधनवानों के हितों की रक्षा करना है। साधनहीन की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यही रूप है कि वह अपने हाथ-पाँव बाँध देने वाली सरकार नाम की रस्सी का खर्च जुटाने के लिये परवश बन जाये। समाज में विषमता और असमानता कैसे पैदा होती है ? जब कुछ आदमियों को ऐसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हो कि पैदावार के साधनों पर अपना अधिकार करके दूसरों के श्रम का भाग स्वयं ले सकें तभी विषमता पैदा हो जाती है और बढ़ती जाती है। पूंजीवादी शासन-व्यवस्था का प्रयोजन साधनवानों की इसी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता की रक्षा करना है अर्थात साधनहीनों की परवशता को मज़बूत बनाये रखना है।

पूंजीवादी न्याय और शासन-व्यवस्था में समान कानूनी अधिकारों का

उपयोग कर सकने के लिये पर्याप्त पूँजी का होना पहली शर्त है। ठीक वैसे ही जैसे सिकन्दर, नादिरशाह या तैमूरलंग अपनी शक्ति से सभी देशों को जीत लेना अपना अधिकार समझते थे परन्तु यह मानने के लिये तैयार नहीं थे कि उन के विरुद्ध शक्ति प्रयोग का अधिकार किसी दूसरे को भी हो सकता है। एक समय छत्रपति सम्राट को यह अधिकार था कि नाराज़ हो जाने पर शहर में क़त्लेआम करा दे, पूरे शहर को आग की लपटों की भेंट कर दे। उसे अधिकार था किसी भी व्यक्ति से नाराज़ हो जाने पर उसे हाथी के पाँव तले कुचलवा दे, अपनी प्रजा के किसी भी सेठ के खजाने को अपने खजाने में सिमिटवा ले, मन चाहे जितनी स्त्रियों को अपने रनिवास में समेट कर अपनी रानियाँ, रखेलियाँ या बांदियाँ बना ले। उस का कोई भी काम अनुचित या अपराध नहीं हो सकता था; क्योंकि उस के समान अधिकारों का दावा कोई नहीं कर सकता था। पूर्वी और पश्चिमी दोनों संस्कृतियों में राजा का यह अधिकार ईश्वरदत्त अधिकार माना जाता था परन्तु ऐसी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता और अधिकार, समाज में कितने व्यक्ति भोग सकते हैं ? एक समय समाज में एक से अधिक व्यक्ति ऐसी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता और अधिकार नहीं भोग सकता। राज्यसत्ता के राजा की व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता का दूसरा पहलू था सम्पूर्ण प्रजा की दासता।

इस युग में शासन का अधिकार एकछत्र राजा के हाथ से निकल कर पूंजीवादी श्रेणी के हाथ में आ गया है। अब व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता ने ऐसा रूप ले लिया है जिसे पूँजीपति श्रेणी के सभी व्यक्ति समान रूप से, या अपनी पूँजी के अनुपात में भोग सकते हैं। एकछत्र राजसत्ता के समय जो राजा जितना बड़ा होता था उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता उतनी ही बड़ी होती थी। बड़ा राजा छोटे राजा का राज छीन सकता था। इसी प्रकार आज जो पूँजीपति जितना बड़ा है, उसकी स्वतंत्रता भी उतनी ही बड़ी है। राजनैतिक, आर्थिक, स्वास्थ्य, शिक्षा और विनोद के क्षेत्रों में पूँजीपति वर्ग के विशेषाधिकारों और अवसर की बुनियाद, उन का सर्व-साधारण की अपेक्षा अधिक साधन-सम्पन्न होना ही है।

पूंजीवादी व्यवस्था के विकास की स्वाभाविक गति ऐसी है कि पैदावार के साधनों के आपसी होड़ में केन्द्रीकरण द्वारा वह अपनी श्रेणी की संख्या कम करती जाती है और साधनहीनों की संख्या बढ़ाती जाती है। यह पूंजीवादी

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परिणाम है। पूंजीवाद का अर्थ है, पूंजी के बल से साधनों को अपने हाथ में लेकर साधनहीनों से श्रम करवा कर पैदावार कराना और यह पैदावार फिर साधनहीनों को देते समय मुनाफ़े को पूंजी के रूप में समेटते जाना। साधनवान और पूंजीपति व्यक्ति जब न्याय, नैतिकता और व्यवस्था की बात करता है तो पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार और इन साधनों से मुनाफ़ा कमा सकने के अवसर को न्याय की नींव मान लेता है। स्वतंत्र भारत के नवीन विधान में व्यवस्था और न्याय के इसी आधारभूत सिद्धान्त को स्वीकार करके पूरी व्यवस्था की इमारत तैयार की गई है।

दूसरे व्यक्तियों से श्रम करवाकर मुनाफा कमा सकने के अवसर का प्रयोजन दूसरों का शोषण कर सकने या उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुचल सकने का अवसर है। ऐसा अधिकार और अवसर समाज के सब व्यक्तियों को समानरूप से नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति का ऐसा अधिकार दूसरों के अनधिकार और अवसरहीनता पर ही निर्भर करता है। कुछ एक आदमियों की ऐसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता दूसरों की परवशता पर ही निर्भर करती है। साधनवान समाज की ऐसी व्यक्तिगत-स्वतंत्रता साधनहीनों की निर्बलता और परवशता की भूमि में ही पनप सकती है।

साधनहीनों को जीवन की रक्षा और विकास के लिये साधन और अवसर तभी मिल सकते हैं जब उनका शोषण करने का अधिकार और अवसर किसी को न हो परन्तु हमारे अर्जेण्टाइनी और उन जैसे दूसरे लोगों को और इस श्रेणी के महात्माओं को भी शोषकों की ऐसी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता पर रोक लगाना हिंसा, कम्युनिज्म और अन्याय जान पड़ता है। इसीलिए कम्युनिज्म की भावना, जिस का अर्थ समाज में सभी व्यक्तियों के लिये समान अवसर, अधिकार और स्वतंत्रता है, शोषण के अधिकार से लाभ उठाने वाली श्रेणी को अपनी 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' को कुचल देने वाले, सड़क दबाने के बर्बर इंजन के समान जान पड़ती है; वे अपने शोषण के अधिकार की व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये एक ओर अहिंसा के उपदेश और दूसरी ओर तोप, तलवार, टैंक और एटमबम लेकर संसार की व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता की रक्षा का दम भरते हैं।

अर्जेण्टाइनी मित्र का भय निर्मूल नहीं है। कम्युनिज्म की संस्कृति निश्चय ही उनसे शोषण की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को छीन कर सम्पूर्ण समाज में समान

रूप से बांट देना चाहती है, उनके आर्थिक शोषण के बन्धन में बंधे लोगों को स्वतंत्र कर देना चाहती है, सम्पूर्ण समाज के लिये संभव व्यक्तिगत स्वतंत्रता सभी को दे देना चाहती है। अर्जेण्टाइनी महाशय के कम्युनिज्म के प्रति क्रोध या गांधी जी, सरदार पटेल और राजा जी का कम्युनिज्म को हिंसापरक बताना मुझे अपनी एक अनलिखी कहानी की बात याद दिला देती है। जिन दिनों ब्रिटिश साम्राज्य के सम्राट एडवर्ड अष्टम को मिसेज़ सिम्पसन से विवाह करने की इच्छा के कारण राजगद्दी छोड़ देनी पड़ी थी मैंने कल्पना की--यदि महाराज दुष्यन्त, भीष्मपितामह, सिकन्दर, नादिरशाह, बाबर या अलाउद्दीन खिल्जी आज इस संसार में आकर एक सम्राट को प्रजा की इच्छा के सामने इस प्रकार झुकते देखें तो उनका मन उस सम्राट की कायरता के प्रति कैसी घृणा से भर जायगा ? उन्हें यह बात कितना बड़ा अन्याय, हिंसा, अनाचार और ईश्वरीय न्याय का विरोध जान पड़ेगी ? अपने सम्राट पर हुक्म चलाने वाली प्रजा को वे क्या दंड देंगे ? कुछ वर्ष पहले तक भारत की रियासतों के मामूली राजा, काबुल के अमीर और नैपाल के महाराजाधिराज आज भी ब्रिटिश साम्राज्य के सम्राट से कहीं अधिक व्यक्तिगत-स्वतंत्रता रखते थे। भीष्म पितामह और अलाउद्दीन खिल्जी और पृथ्वीराज मनचाही औरत को छीन लाने के लिये पूरे देश की सेना और खजाने को खर्च कर सकते थे और तब यही न्याय और धर्म था। राजा और सम्राट की पूर्ण व्यक्तिगत-स्वतंत्रता के राज में समाज के किसी दूसरे व्यक्ति की व्यक्तिगत-स्वतंत्रता सम्भव नहीं थी।

समाज के आर्थिक विकास और परिवर्तनों से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गईं कि समाज एकछत्र राजा की व्यक्तिगत-स्वतंत्रता को सहने के लिये तैयार न रहा। पूंजीवादी व्यवस्था ने एकछत्र राजा की व्यक्तिगत-स्वतंत्रता को इस श्रेणी ने आपस में बांट लिया है। आज का पूंजीपति समाज उन सभी अधिकारों और अवसरों को भोग रहा है जिन्हें एक समय केवल राजा भोगता था। पूंजीपतियों की व्यक्तिगत-स्वतंत्रता पर केवल ऐसे बन्धन हैं जो दूसरे पूंजीपतियों की व्यक्तिगत-स्वतंत्रता और पूंजीवादी व्यवस्था की रक्षा के लिये आवश्यक हैं, अर्थात वे शहर में कत्लेआम नहीं कर सकते या आग नहीं लगा दे सकते। इतिहास ने इस परिवर्तन को समाज के विकास के रूप में स्वीकार किया है।

समाज का सामन्तवादी या एकछत्र राज की अवस्था से पूंजीवादी प्रजातंत्र

राज की अवस्था में बदल जाना बड़ी भारी क्रान्ति थी। एक समय था जब राजा का अस्तित्व ईश्वरीय विधान माना जाता था और प्रजा के लोगों का अपना शासन कर सकना असम्भव बात या मज़ाक जान पड़ती थी परन्तु यह होकर ही रहा। नीरो, नादिरशाह या राजा जयसिंह को प्रजातंत्र के सिद्धान्त समझाने की चेष्टा की जाती तो वह उन्हें समझ में नहीं आ सकते थे। पूंजीवादी व्यवस्था ने समाज को एकछत्र राजा की नादिरशाही, शोषक व्यक्तिगत स्वतंत्रता से उन्मुक्त उस व्यवस्था से अधिक सम्पन्न बनाया और अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता तो दी परन्तु प्रजा पर अपना शासन दृढ़ करने के लिये इस व्यवस्था ने भी ईश्वरी न्याय का चोला ओढ़ लिया है।

परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था को ही समाज के विकास की अन्तिम मंजिल नहीं मान लिया जा सकता। समाज को व्यक्तिगत-स्वतंत्रता के ऐसे रूप और आदर्श की आवश्यकता है जिसमें समाज के सभी लोग समान रूप से स्वतंत्रता और अवसर पा सकें। सर्व-साधारण को जीवन का अवसर देने वाली और शोषण से मुक्त करने वाली व्यवस्था या व्यक्तिगत-स्वतंत्रता और जनतंत्र कुछ पूंजीपतियों की नादिरशाही शोषक उच्छृङ्खलता पर अवश्य बन्धन लगायेगी। अर्जेण्टाइनी महोदय और उनके आध्यात्मिक संस्करण परम गांधीवादियों को इस व्यवस्था और समाजवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को उसी रूप में स्वीकार करना होगा जैसे आज एडवर्ड अष्टम सम्राटों की नादिरशाही व्यक्तिगत-स्वतंत्रता पर पूंजीवादी प्रजातंत्र के बंधन को स्वीकार कर रहे हैं।

सम्पूर्ण समाज की व्यक्तिगत-स्वतंत्रता समाज को मान्यता देकर, पैदावार के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का समान अधिकार स्वीकार करने से ही हो सकती है। साधनों की समता के बिना व्यक्तिगत स्वतंत्रता की समता केवल धोखा-मात्र है।

५

विचारों की स्वतन्त्र सत्ता

अगस्त सन् १९५० की बात है। बहुत दिन तक घर से बाहर पहाड़ में बने रहने के कारण कारोबार के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार का काम पिछड़ा हुआ था। सुबह नित्य नैमित्यिक की उपेक्षा कर पिछड़े हुये पत्रों के उत्तर लिखने के लिये बैठ गया था। कुछ ही देर बाद साथ के दफ्तर के कमरे से, घरेलू काम सम्भालने वाले अपने साथी की आवाज सुनाई दी। उस ने आगंतुक से प्रश्न किया था—"आप कहाँ से आये हैं ?"

उत्तर सुनाई दिया, विनय के आवरण में लिपटे अधिकार के स्वर में—"कह दो, जैनेन्द्र !"

वह स्वर सुनकर तुरन्त अनुमान किया, हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक श्री जैनेन्द्रकुमार दिल्ली से पधारे होंगे। दिल्ली से आने वाले व्यक्ति की और फिर श्री जैनेन्द्र जी के समान प्रतिष्ठित लेखक के पधारने की उपेक्षा कर जाना उचित नहीं था। मन मार कर उठा कि अपना काम फिर देखा जायगा। दफ्तर के कमरे में जाकर देखा, खद्दर की खूब खुली आस्तीनों को कोहनियों से ऊपर समेटे और दोनों बाहों को लताओं की तरह आपस में बल देकर एक हाथ की हथेली पर ठोड़ी टिकाये जैनेन्द्र जी ही बैठे थे। अभ्यर्थना में नमस्कार कर क्षमा माँगी कि सुबह ही कुछ पिछड़े हुये आवश्यक काम में लग जाने के कारण कुछ अस्त-व्यस्त अवस्था में हूँ।

"यह सब तो चलता ही है" जैनेन्द्र जी मेरी अस्त-व्यस्त अवस्था को उदारता से स्वीकार कर बोले—"आया था लखनऊ और दिल्ली से चलने से पहले ही सोचा था, यशपाल से भी मिलूंगा अवश्य।"

अपने लिये एक महान लेखक की स्मृति के लिये धन्यवाद देकर निवेदन किया—"इस के लिये आप का आभारी हूँ। आजकल क्या लिख रहे हैं आप ?

हिन्दी-संसार आप की रचना की प्रतीक्षा उत्सुकता से करता है। इधर मैं कुछ देख नहीं पाया। कुछ तो कारोबार में व्यस्त हो जाता हूँ; परन्तु आप जो कुछ लिखें, पढ़ने की इच्छा अवश्य बनी रहती है।"

जैनेन्द्र जी ने दूसरे हाथ की हथेली पर ठोड़ी बदलते हुये उत्तर दिया--

"कुछ भी नहीं। इधर कुछ भी नहीं लिख पा रहा हूँ। मुद्दत से नहीं लिख रहा हूँ। कुछ समझ नहीं पाता, क्या लिखूं ? और जब लिखा था, तब भी नहीं मालूम कैसे लिखा था ? क्या लिखा था ? जो आया सो लिख दिया। लिखते तो तुम हो। खूब लिखते जा रहे हो भाई। मैं पढ़ना चाहता हूँ कि क्या लिख रहे हो परन्तु तुमने अपनी किताबें भेजी नहीं। मैं तुम्हारी सब पुस्तकों की एक-एक कापी चाहता हूँ।"

अवसर से ठीक इसी समय प्रकाशवती दफ्तर के कमरे में आ पहुँची। सम्भवत: आई तो थीं मुझे याद दिलाने कि अब मैं नहा डालूं, काफी विलम्ब हो गया है परन्तु जैनेन्द्र जी को उपस्थित देखकर नमस्कार कर चुप रह गईं।

उन्हें सम्बोधन कर मैंने अनुरोध किया--"मेरी नई प्रकाशित पुस्तकें--'मनुष्य के रूप', 'पक्का क़दम' और 'फूलो का कुर्ता' एक-एक कापी आप के लिये ला दो।"

जैनेन्द्र जी ने टोक कर पुन: स्मरण दिलाया--"नहीं-नहीं, सभी पुस्तकें चाहिये मुझे। वह क्या पुस्तक है तुम्हारी, 'मार्क्सवाद' और 'गांधीवाद की शव परीक्षा' भी।"

रानी (प्रकाशवती) पुस्तकें लेने चली गईं और जैनेन्द्र जी कभी छत की ओर दृष्टि कर और कभी फर्श की ओर देखकर कहते गये--"हाँ, तो तुम खूब लिख रहे हो। वह क्या चीज़ है जिस से तुम लिखते चले जाते हो ?.... अन्त:प्रेरणा से या अनुभूति से ?"

"अन्त:प्रेरणा और अनुभूति, इन दोनों चीज़ों को मैं अपने नित्य जीवन से पृथक अनुभव नहीं करता हूँ" उत्तर दिया, "मैं अनुभव करता हूँ कि अमुक प्रश्न उठाया जाना चाहिये अथवा अमुक समस्या की ओर ध्यान देना या मेरे विचार में यह उत्तर होना चाहिये और मैं अपने साथियों, अपने समाज को वह बात सुनाने या सुझाने की आवश्यकता अनुभव कर लिखना ज़रूरी समझता हूँ। ऐसे प्रश्न, समस्यायें और बातें मुझे इतनी अधिक दिखाई देती हैं कि लिखना मुझे सदा ही आवश्यक और स्वाभाविक जान पड़ता है। कभी कुछ

दूसरे कारण रुकावट डाल देते हैं तो नहीं लिख पाता हूँ वरना लिखना तो सदा ही चाहता हूँ। लिखना मैं अपना काम समझता हूँ। जैसे दूसरों के अपने काम हैं, मेरा काम लिखना है। मैं अपना काम न करूँ, यह मुझे अस्वाभाविक और अनुचित भी जान पड़ता है।"

बातों में रस आने लगा था। रानी पुस्तकें ले आई। मैंने उनसे चाय मंगा लेने के लिये कहा। अब जैनेंद्र जी सरलता से अपने दृष्टिकोण की बात मुझे समझाने लगे, जिसका अभिप्राय यह था कि लिखने के बारे में उनका दृष्टिकोण मेरी तरह भौतिक और पार्थिव नहीं है। वह लिखने का इरादा या विचार करके नहीं लिखते। लिखना उनके जीवन की सचेत, सप्रयोजन चेष्टा नहीं है। उन्हों ने जो कुछ लिखा है, वह उनके बस की बात नहीं थी यानि उस में कोई बनावट श्रृंगार या जोर-ज़बर्दस्ती उन्हों ने नहीं की है। उनकी बात अपने शब्दों में कह रहा हूं। उनका प्रयोजन था--लिखना उनकी कला और भावात्मकता का स्वाभाविक उद्वेग था, वैसे ही जैसे बसंत में कोयल और बरसात में पपीहे का बोल उठना।

चाय के साथ-साथ अनेक बातों के बाद जैनेंद्र जी बोले--"बात यह है कि दिल्ली से निकला हूँ और इरादा कर लिया है एक टूर का, देश के पूरे दौरे का। एक भारी काम है।"

मैंने अनुमोदन किया--"अच्छा ही है।" और फिर प्रश्न किया कि दौरे का प्रयोजन क्या है? शायद, देश की परिस्थितियों का अध्ययन?

अपनी दृष्टि को अपनी नाक की नोक पर स्थिर कर एकाग्रता की मुद्रा में जैनेन्द्र जी ने हामी भरी--"हां! और काम तो वास्तव में वही है....." दोनों हाथों की आपस में उलझी हुई उंगलियों को ऐंठते हुए उन्हों ने बात पूरी की, "काम है, बस वही जो अपना काम है; कम्यूनिज्म को फ़ाइट करना।"

"तो ठीक है, कीजिये!" उनकी मेज की ओर झुकी पलकों की ओर देख उनसे निगाह मिला सकने में असफल रह कर मैंने उत्तर दिया, "यदि आपने यही काम स्वीकार किया है तो निस्सन्देह आप करेंगे ही। मैं परिणाम की प्रतीक्षा करूँगा।"

"हाँ।" ध्यानावस्थित मुद्रा में ही सिर हिला कर जैनेन्द्र जी ने माना, "हाँ, ठीक है परन्तु इसमें तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है।"

हँसी के उठते उबाल को होंठों में दबाकर प्रश्न किया--"मेरी सहायता

की आवश्यकता ? इस काम में मैं आप की क्या सहायता कर सकता हूँ ? मैं शायद आपका अभिप्राय नहीं समझा ?"

जैनेन्द्र जी ने अपने मेरुदण्ड को बिलकुल सीधा कर और आंखें मेज़ पर गड़ाकर अपनी बाँहों को आपस में लपेटते हुये समझाया--"इस काम में तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है इस तरह कि पहिले कम्युनिज्म को समझना होगा। उसे 'फ़ाइट' करने के लिये पहिले उसे अच्छी तरह समझना होगा।" इस बार उन्हों ने मेज़ पर गड़ी अपनी दृष्टि मेरी ओर की और बोले, "इस कम्युनिज्म को समझने के लिए तुम्हारी सहायता की आवश्यकता होगी।"

फिर उन्हों ने दृष्टि को मेज़ की ओर ही कर लिया और गरदन को एक ओर झुका कर बोले--"मैं तुम्हारी पुस्तकें मार्क्सवाद वग़ैरा पढ़ूंगा और इसके अलावा भी जो मुझे आवश्यकता होगी, कम्युनिज्म को समझने के लिये तुम्हें मेरी सहायता करनी होगी।"

इस बार मुस्कराहट रोकना कठिन ही हो गया। महाभारत की कहानी याद आ रही थी अर्जुन कई दिन भीष्मपितामह पर बाण-बर्षा करके जब उन का कुछ भी न बिगाड़ पाये तो एक दिन गीता का उपदेश देने वाले भगवान कृष्ण के सुझाने से भीष्मपितामह के यहाँ पहुँच कर ही पूछा--"पितामह, आप को परास्त करने या आपका बध कर सकने का क्या उपाय है ?"

अर्जुन द्वारा पराजय की स्वीकृति से द्रवित होकर भीष्मपितामह ने सुझाया कि तुम्हारी सेना में एक नपुंसक शिखण्ठी मौजूद है। उसे सामने कर तुम मुझ पर बाण प्रहार करो तो मैं तुम्हारी ओर देख न पाऊँगा और तुम मुझे घायल करने में सफल हो जाओगे। गीता धर्म के शाश्वत सत्य-अहिंसा में विश्वास रखने वालों को पूरा अधिकार है कि आज भी कम्युनिस्टों से जाकर उन्हें 'फ़ाइट' करने का उपाय पूछ लें। यह कहने में भी अत्युक्ति नहीं है कि कम्यु-निज्म को 'फ़ाइट' करने वाले आज कितने ही शिखण्डियों को सामने किये उनके पीछे से कम्युनिज्म पर आघात कर ही रहे हैं परन्तु प्रकट में बोला--

"आप कम्युनिज्म या मार्क्सवाद को समझना चाहें तो सामर्थ्य भर, मार्क्स-वाद और कम्युनिज्म को जितना समझ पाया हूँ, आप की सहायता के लिये तैयार हूँ; परन्तु यह भी तो सम्भव है कि मार्क्सवाद या कम्युनिज्म को समझ लेने पर इन से लड़ने की आवश्यकता आप अनुभव न करें! प्रत्युत इन्हें प्रोत्साहित करने की ही आवश्यकता जान पड़ने लगे ?"

अपनी लचीली गर्दन पर सिर को दृढ़ निश्चय से हिलाते हुये जैनेन्द्र जी ने विश्वास दिलाया--"नहीं, वह तो निश्चित है।" और फिर अपनी पाँचों उँगलियों को मज़बूत मुट्ठी में बाँध कर अपने निश्चय की दृढ़ता का संकेत किया, "कम्युनिज्म को फाइट करना है, यह तो निश्चित ही है।"

जैनेन्द्र जी से वह मुलाकात मुझे बार-बार याद आती है और 'कम्युनिज्म को फाइट करने' के उन के दृढ़ निश्चय का मेरी दृष्टि में एक विशेष महत्व है, उन का यह दृढ़ निश्चय एक विशेष विचारधारा का प्रतीक है। इस विचारधारा का मूल आधार है कि कम्युनिज्म को अनिष्ट और घृणित मानने के लिये उस का परिचय होना आवश्यक नहीं, अथवा उचित और अनुचित, सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय, नैतिक और अनैतिक का निर्णय स्वतन्त्र विचार से परिस्थितियों, समाज के अनुभवों और ज्ञान के आधार पर नहीं किया जा सकता। सत्य, न्याय और नैतिकता शाश्वत वस्तु हैं। मनुष्य-समाज के निर्णय के आधीन और परिवर्तनशील नहीं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-समाज को अपनी नैतिकता और न्याय की धारणा निश्चित करने का अधिकार नहीं।

कुछ लोगों से हम यह भी सुनते हैं कि कम्युनिज्म या मार्क्सवाद आर्थिक दृष्टिकोण से भले ही समाज के लिये हितकर हों परन्तु उस में एक असह्य दोष यह है कि वह मनुष्य की आत्मा का, मनुष्य की व्यक्तिगत और विचारों की स्वतन्त्रता का हनन करता है। किसी मामूली आदमी की बात नहीं कह रहा हूँ, जैनेन्द्र जी के समान प्रतिष्ठित 'लेखक' और 'विचारक' की बात कह रहा हूँ। मैं यह जानना चाहता हूँ कि जैनेन्द्र जी को विचारों की स्वतन्त्रता है या नहीं ? क्या उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे कम्युनिज्म और मार्क्सवाद का परिचय पा लेने के बाद यह निर्णय कर सकें कि 'कम्युनिज्म को फाइट' करना उचित है या नहीं ? मुझे जैनेन्द्र जी के प्रति आदर और सहानुभूति है और खेद इस बात का है कि उन्हें स्वयं वह स्वतन्त्रता नहीं जिसके लिये उन का आग्रह है। उन के लिये यह पूर्व निश्चित शाश्वत सत्य है कि उन्हें 'कम्युनिज्म को फाइट' करना ही होगा, चाहे वह उन्हें युक्ति-संगत ही जंचे।

जैनेन्द्र जी ने अपने विचारों की स्वतंत्रता क्यों त्याग दी है ? एक ही उत्तर सूझता है, क्योंकि वे आदर्शवादी (आइडिलिस्ट) हैं, भौतिकवादी नहीं। जैसे भौतिकवादी अपनी विचारधारा को भौतिक परिस्थितियों के आधार पर निश्चित करने की स्वतंत्रता रखता है, वैसी स्वतंत्रता आदर्शवादी नहीं रखता।

आदर्शवादी अपनी विचारधारा को स्वयं निश्चित करने के अधिकार और स्वतंत्रता को अस्वाभाविक और अयथार्थ मान कर उसे छोड़ देता है।

आदर्शवादी कहता है कि भौतिकवाद-मार्क्सवाद मनुष्यों के स्वतंत्र और विस्तृत विचारों को भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों से बाँधकर उन्हें पंगु और सीमित बना देते हैं। मनुष्य के विचार और उस के आदर्श आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों से स्वतंत्र हैं। 'विचारों की एक स्वतंत्र सत्ता' है। जब आदर्शवादी परिस्थितियों के अनुसार अपनी विचारधारा का स्वयं सृष्टा होने के अधिकार को अपनी इच्छा से त्याग कर 'विचारों की स्वतंत्रता' का गर्व करता है तब उस की तुलना उस हिन्दू पतिव्रता से की जा सकती है जो इस जीवन और जन्म-जन्मांतर में स्वेच्छा से पति की पूर्ण 'दासता' को अपनी 'मुक्ति' का आदर्श समझ लेती है या 'विचारों की स्वतंत्रता' का गर्व करने वाले आदर्शवादी की तुलना अंग्रेज़ी राज्य के उन रायसाहबों से की जा सकती है जो अंग्रेज़ी शासन की गुलामी को समाज में अपने अधिकारों और प्रतिष्ठा का आधार मान कर, अंग्रेज़ी राज्य में 'पूर्ण स्वतंत्रता' अनुभव कर ब्रिटिश शासन के समर्थक बने हुये थे।

आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों से विचारों की स्वतंत्र सत्ता की बात करते समय या आदर्शवादी जैनेन्द्र जी की विचारों की स्वतंत्रता की बात करते समय एक दूसरे प्रतिष्ठित लेखक 'अज्ञेय' जी की भी बात का ज़िक्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। २९ अक्तूबर १९५० की बात है। आल इंडिया रेडियो स्टेशन, इलाहाबाद से 'उपन्यासों के स्वर' शीर्षक एक वार्तालाप रेडियो से प्रसारित करने के लिये, उपन्यास-लेखकों की आपसी बातचीत के प्रसारण के लिये पांडुलिपि तैयार की जा रही थी। इस प्रसंग में भगवतीचरण जी वर्मा का प्रश्न था कि उपन्यास लिखने में मेरा क्या प्रयोजन और अभिप्राय रहता है।

मेरा उत्तर था—"उपन्यास लिखने में मेरा अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि मनुष्य-समाज परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है बल्कि वह अपनी विचारधारा का स्रष्टा है। समाज के जीवन में प्राय: घटने वाली घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण-पात्र में रख कर यह दिखाना चाहता हूँ कि किस प्रकार इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है या समाज के नये अनुभव कैसे नई विचारधारा को जन्म दे देते हैं। साधारणत: कहा यह जाता है कि 'विचारों की एक स्वतंत्र सत्ता' है और मनुष्य-समाज

की विचारधारा मनुष्य-समाज के जीवन का क्रम निश्चित करती है। विचारों की स्वतंत्र सत्ता और इन विचारों के अनुसार जीवन का क्रम निश्चित होने की धारणा को हम आदर्शवाद या आइडियलिज़्म कहते हैं। इस के विपरीत जीवन की भौतिक परिस्थितियों और अनुभवों से समाज की विचारधारा की उपज मानने की धारणा को हम भौतिकवाद या मैटिरियलिज्म कहते हैं। उपन्यास के रूप में सामाजिक घटनाओं का विश्लेषण करने में मेरा प्रयोजन यह दिखाना है कि समाज की विचारधारा और आदर्श समाज के जीवन को बाँध कर उसे पंगु बना देने वाली शृंखला नहीं बल्कि समाज की आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों से पैदा हुई समाज की सूझ है जो समाज को अपनी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपना जीवन सुविधा से ढाल सकने में सहायता देती है।"

इस प्रसंग में यह भी प्रश्न उठा कि हिन्दी के उपन्यास प्रेमचन्द जी के समय से अब तक किस दिशा में विकसित हो रहे हैं अथवा क्या प्रगति कर चुके हैं। इस प्रश्न का उत्तर मैंने यह दिया था—"प्रेमचन्द जी के समय हमारा समाज सामन्तवादी युग के शोषण की अंतिम अथवा पूंजीवादी शोषण के युग की आरम्भिक अवस्था में था। प्रेमचन्द जी ने इस युग में पैदा होते वैषम्य और शोषण की आशंकाओं के प्रति एक चेतावनी दी थी। समाज, विकास और परिवर्तन की स्वाभाविक गति से पूंजीवादी शोषण की उत्कट और परिपक्व अवस्था में पहुँच गया है इसलिये आज का उपन्यास-लेखक शोषण की पीड़ा से चिल्लाकर मुक्ति की माँग कर रहा है। प्रेमचन्द जी और आज के लेखक की लेखन-वस्तु में उतना ही परिवर्तन हुआ है जितना कि प्रेमचन्द जी के समय और आज दिन की आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों में हुआ है। इसे परिवर्तन न कहकर समाज की परिस्थितियों और विचारों का विकास और परिपाक भी कहा जा सकता है।"

मेरे इस उत्तर से अज्ञेय जी का समाधान नहीं हुआ, वे बोले—"मैं यशपाल जी के उत्तर से पूर्णरूप से सहमत नहीं हो सकता। मैं उसमें संशोधन चाहता हूं। मेरे विचार में वह एकांगी है। मैं समाज के विकास में आर्थिक परिस्थितियों के महत्व को स्वीकार करता हूं परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य वस्तु को भी महत्व देता हूँ, विचारों का भी अपना प्रभाव और स्थान समाज के विकास में रहता है। मैं यह तो मानता हूँ कि भौतिक परिस्थितियों और पदार्थों से ही मनुष्य-

जीवन बनता है परन्तु भौतिक पदार्थों और परिस्थितियों से मनुष्य का जीवन बन जाने के बाद मनुष्य भौतिक परिस्थितियों और पदार्थों का स्वामी बन जाता है, उनका नियंत्रण करता है। इसी प्रकार में मानता हूं कि जीवन से ही विचारों की उत्पत्ति तो होती है परन्तु जीवन से विचारों की उत्पत्ति हो जाने के बाद विचारों की अपनी एक 'स्वतन्त्र सत्ता' भी हो जाती है।"

अब 'अज्ञेय' जी का प्रश्न लिखा जा चुका तो उत्तर की आशा से पन्त जी ने मेरी ओर देखा।*

ऐसी प्रबल युक्तियाँ सुनने को कम मिलती हैं। मैंने जो उत्तर लिखाया वह यह था--"मैं अज्ञेय जी की 'विचारों की जीवन से स्वतन्त्र सत्ता' की बात मान लेता यदि मैं कहीं जीवन के अभाव में भी 'विचारों की सत्ता' देख पाता। चूंकि जीवन के बिना विचारों की कल्पना करना संभव नही इसलिये 'जीवन से स्वतन्त्र विचारों की स्वतन्त्र सत्ता' की बात करना भी युक्ति-संगत नही जान पड़ता। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार जिस समाज का जीवन जिस ढंग का होता है, उस समाज के विचार भी उसी ढंग के होते हैं। अत: यही मानना पड़ेगा कि विचारों की सत्ता जीवन से स्वतन्त्र नहीं है। विचार जीवन की परिस्थितियों का परिणाम और जीवन के सहायक साधन-मात्र हैं।"

श्री सुमित्रानंदन जी ने मेरा यह उत्तर पढ़ कर अज्ञेय जी की ओर देखा और अज्ञेय जी ने अपने सदा गंभीर चेहरे पर आँखें झपक कर मुझे नहीं बल्कि पन्त जी को उत्तर दिया--"इस तरह तो बात मैटाफ़िज़िकल प्लेन पर (आध्यात्मदर्श के क्षेत्र में) चली जायगी।"

पंत जी ने उनका अनुमोदन किया। वर्मा जी ने भी सुझाया कि बातचीत साहित्यिक स्तर पर ही रहनी चाहिये। रेडियो स्टेशन से जो वाद-विवाद प्रसारित होते हैं, वे एक पूर्वनिश्चित समझौते की परिधि में ही रहते हैं इसलिये मुझे स्वीकार कर लेना पड़ा--अच्छा जाने दीजिये और रेडियो स्टेशन का वाद-विवाद या वार्तालाप सुलह समझौते के सौजन्य में पूर्ण हो गया परन्तु मैं आदर्शवादी धारणा के अनुकूल विचारों की 'स्वतन्त्र-सत्ता' की बात पर मनन किये बिना नहीं रह सकता।

* यह लख मैं स्मृति से लिख रहा हूँ। शब्दों में कुछ हेर-फेर हो सकता है। अभिप्राय ठीक से ही देने की चेष्टा की है।--यशपाल

यदि हम अज्ञेय जी की बात मानें और अपने को इस रूप में भौतिकवादी मान लें कि जीवन भौतिक पदार्थों और परिस्थितियों से उत्पन्न होता है और जीवन से विचार उत्पन्न होते हैं, परन्तु विचारों की जीवन से एक स्वतन्त्र सत्ता भी हो जाती है, तो इसकी उपमा कुछ ऐसी ही होगी जैसे कि हम कहें कि मनुष्य पतंग बनाता है और पतंग को आकाश में उड़ाता है। आकाश में उड़ जाने के बाद पतंग की मनुष्य से स्वतंत्र सत्ता हो जाती है। पतंग की मनुष्य से स्वतन्त्र सत्ता तभी समझी जानी चाहिये जब पतंग की डोर मनुष्य के हाथ से छूट जाये अर्थात जीवन से स्वतन्त्र विचारों की सत्ता ठीक वैसी ही चीज़ है जैसे कटी डोर की पतंग। विचारों की सत्ता पूर्णतः जीवन से तभी स्वतंत्र हो सकती है जब विचारों का जीवन से कोई संपर्क न रह जाने पर भी विचारों की सत्ता बनी रहे।

आदर्शवाद के अनुसार जीवन से विचारों की स्वतन्त्र सत्ता की उपमा कटी डोर की पतंग से देना मज़ाक नहीं बल्कि यथार्थ वास्तविकता है। ऐसी आदर्शवादी विचारधारा जीवन की वास्तविकताओं को उपेक्षा करके जहाँ चाहे उड़ा करती है और स्वयं जीवन को ही मिथ्या बता कर जीवन की वास्तविकता का निरादर करना चाहती है।

जीवन की परिस्थितियों से विच्छिन्न विचारों की स्वतन्त्र सत्ता या आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार समाज की अवस्था में सुधार के प्रयत्न का उदाहरण बहुत स्पस्ट है। यह उदाहरण है समाज की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन किये बिना, समाज में शोषित और शोषक वर्गों के मौजूद रहते, केवल विचारों के बल से समाज से अशांति और विषमता को दूर करने की कल्पना। इसे आप हृदय-परिवर्तन का नाम देते हैं।

यह उदाहरण आदर्शवादी विचारधारा अंतर्विरोध को प्रगट करता है। हृदय परिवर्तन द्वारा समाज से अशांति और विषमता को दूर करने के विचार समाज में विषमता और अशांति अनुभव होने के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। सत्य-अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन की कोई स्वतंत्र या अकारण सत्ता नहीं मानी जा सकती। सत्य-अहिंसा का उपदेश समाज में शोषण, विषमता और अन्याय अनुभव होने पर ही दिया जाता है। इस विचारधारा का प्रयोजन स्पष्ट है कि हम अपना ध्यान आर्थिक कठिनाइयों और विषमताओं की ओर से हटा कर केवल आदर्शों के बल से वर्तमान अन्याय और दुरावस्था

का उपाय करने में लगे रहें अथवा कटी हुई डोर की पतंग को आकाश में डाँवाडोल होते देख कर अपना भाग्य ईश्वर की इच्छा से चलने वाली वायु पर निर्भर मान संतुष्ट बने रहें। आध्यात्मिकता के इस करतब का सांसरिक प्रयोजन स्वामी श्रेणी के आर्थिक हितों पर आने वाले संकट को दूर रखना ही है।

विचारों की स्वतन्त्र सत्ता के विषय पर लम्बी बहस का प्रयोजन मजाक नहीं और न विग्रह का शौक मात्र है बल्कि यह देखना है कि क्या जीवन की वास्तविकता से विच्छिन्न और स्वतन्त्र आदर्शवादी धारणा विचारों की स्वतन्त्रता का अवसर मनुष्य को दे सकती है ? यदि ऐसा होता तो जैनेन्द्र जी को इस बात की स्वतन्त्रता होती कि कम्युनिज्म और मार्क्सवाद का परिचय पा लेने के बाद ही 'कम्युनिज्म को फाइट' करने न करने का निश्चय कर सकते परन्तु उन्हें ऐसा अवसर नहीं है या अज्ञेय जी को यह मजबूरी अनुभव न होती कि जीवन और विचारों में समन्वय असम्भव पाकर उन्हें अलग-अलग रखें। मजबूरी में वे कहते हैं कि विचारों की जीवन से स्वतन्त्र अपनी सत्ता है।

जीवन के यथार्थ से विचारों की सत्ता को स्वतन्त्र मानने के दो प्रयोजन होते हैं; एक––जीवन की परिस्थितयों में परिवर्तन स्वीकार करके भी आदर्शों को यथावत रखना। दूसरा––बुद्धिवादी सन्तोष पाने के लिए विचारों की क्रांति को स्वीकार करके भी उसे समाज की व्यवस्था पर प्रभाव डालने से रोकना। यह विचारों की नेहरूवादी स्वतन्त्रता का नमूना है, जिसमें विचार और कर्म को अलग-अलग रखना आवश्यक है। विचारों की स्वतन्त्रता से समाज के सामने समता और सर्व-साधारण की स्वतन्त्रता का आदर्श रखना और कर्म से शोषक पूंजीवादी व्यवस्था को यथावत बनाये रखने का यत्न करते रहना।

विचारों और आदर्शों की सत्ता को जीवन से स्वतन्त्र मानने की आदर्शवादी धारणा का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि विचारों की तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, समाज का विचारों पर कोई नियंत्रण नहीं। मनुष्य के जीवन और आदर्शों में समन्वय तभी हो सकता है जब मनुष्य आदर्शों के लिये अपने आपको बलिदान कर दे। बेचारा मनुष्य परम्परागत आदर्शों और विचारों के आधीन और परतन्त्र हो जाता है। दूसरी दिशा में भौतिकवादी दृष्टिकोण कहता है कि मनुष्य-समाज की विचारधारा उसकी परिस्थितियों पर ही निर्भर

है । इसका अर्थ होता है कि समाज की विचारधारा का ऐसा कोई स्रोत नहीं जिस पर मनुष्य-समाज का प्रभाव और नियन्त्रण न हो । मनुष्य को इस बात की स्वतन्त्रता है कि अपनी परिस्थितियों के अनुकूल समाज के कल्याण के लिये अपनी विचारधारा को ढलने दे । भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों का विचारों पर प्रभाव भौतिकवाद की कपोल कल्पना नहीं है । समाज की बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों में उसकी बदली हुई विचारधारा इतिहास द्वारा प्रमाणित सत्य है ।

आदर्शवादी या शाश्वत सत्य-अहिंसा के समर्थक गांधीवादी विचारों की जीवन से 'स्वतन्त्र सत्ता' का और समाज के लिए परम्परागत विचारों की आधीनता का पातिव्रत धर्म समाज पर जकड़ देना चाहते हैं । आदर्शवादी लोग समाज की परिस्थितियों पर पराम्परागत स्वामी श्रेणी के स्वार्थरक्षक आदर्शों और विचारों का शासन उचित समझते हैं, विचारों को परिस्थितियों के अनुसार बदलना उचित नहीं समझते । जब समाज की विचारधारा समाज की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल होगी तो इसका अनिवार्य परिणाम होगा कि जनता अपनी विचारधारा की स्वामी बन जायगी और अपने आदर्शों को स्वयं निश्चित कर सकेगी । इसके विपरीत आदर्शवाद जनता को परम्परागत विचारधारा के आधीन बनाये रखना चाहता है ।

परम्परागत विचारधारा का पौरोहित्य सम्पत्ति की मालिक श्रेणी के हाथ में चला आ रहा है । समाज के विचारों पर आदर्शवाद के प्रभुत्व का अर्थ हो जाता है समाज के शरीर पर सम्पत्ति की स्वामी श्रेणी का प्रभुत्व । आदर्शवाद, सम्पत्ति की स्वामी श्रेणी के हाथ में शासन का एक सफल साधन बना रहा है । विचारों की जीवन से स्वतंत्र सत्ता की दुहाई देकर आदर्शवादी धारणा के समर्थन का अभिप्राय समाज की विचारधारा को समाज की वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकता के अनुकूल बदलने से रोकना ही है। यदि परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक हित के लिये आदर्शों का रूप बदल देना मनुष्य के बस की बात नहीं तो यह विचारों की स्वतंत्रता नहीं बल्कि पराधीनता ही है । इस दृष्टि से न विचार स्वतंत्र हो सकते हैं न मनुष्य स्वतंत्रता से विचार ही कर सकता है ।

विचारों की वास्तविक स्वतंत्रता का हनन करने के लिए ही जीवन के प्रयत्नों या परिस्थितियों से स्वतंत्र विचारों की सत्ता या शाश्वत सत्य और

नैतिकता का सिद्धान्त गढ़ा जाता है। शाश्वत आदर्शों और विचारों की स्वतंत्र सत्ता की कल्पना जनता और मानव-समाज से आत्म-निर्णय काअधिकार छीन कर उन्हें पंगु बना देने का सब से सफल साधन रहा है। शोषक वर्ग आज भी इस साधन को छोड़ देने के लिये तय्यार नहीं है। दूसरी ओर आदर्शों और विचारधारा को समाज की विकासशील आवश्यकताओं के अनुकूल परिवर्तनशील मानना समाज के नये रूप के निर्माण का और समाजवादी क्रांति का साधन है।

६

अपने सम्पर्कों के प्रति मेरे देय

'विचारों की स्वतन्त्र सत्ता' शीर्षक मेरा लेख 'नया साहित्य' के दिसम्बर १९५० के अंक में प्रकाशित हुआ था। मार्च १९५१ के अंक में भाई जैनेन्द्र जी ने मेरे इस लेख का उत्तर 'विग्रहवाद क्यों?' लिख कर दिया है। भाई जैनेन्द्र जी का यह लेख मेरे लेख का उत्तर नहीं जान पड़ा क्योंकि उन्होंने स्वयं ही मेरे लेख के सात निष्कर्ष निकालकर कहा है—"मुझे इसमें असहमति नहीं देनी है।" उन्हें आपत्ति केवल इस बात पर है कि मैंने जो परिणाम निकाले हैं, वे वास्तव में बीज या लक्ष्य थे और मैं उन परिणामों पर इसलिये पहुँचा हूँ कि मैंने उन्हें 'अपने सम्पर्कों के प्रति देय माना है।'

भाई जैनेन्द्र जी की बात ठीक है। मैं सर्व-साधारण जनता को शोषित और अन्याय पीड़ित समझता हूँ। इस अन्याय से जनता की मुक्ति का उपाय कम्युनिज्म की द्वन्द्वात्मिक भौतिकवादी विचारधारा को मानता हूँ। इस विचार-धारा से मेरा सम्पर्क है। जनता में इस विचारधारा का स्पष्टीकरण और प्रचार मेरा देय है। भाई जैनेन्द्र जी की दृष्टि में भी कुछ न्याय और नैतिक है। वे क्या 'उस न्याय और नैतिक' के प्रति अपना सम्पर्क और देय स्वीकार नहीं करेंगे?

भाई जैनेन्द्र जी से हुई जिस बातचीत का उल्लेख मैंने किया, उसे वे स्वीकार करते हैं। अर्थात भाई जैनेन्द्र जी ने कम्युनिज्म को समझने की आवश्यकता इसलिये अनुभव की कि 'कम्युनिजम को फाइट करना' उन का उद्देश्य है। भाई जैनेन्द्र जी का 'कम्युनिज्म को फ़ाइट करने' का निश्चय उन के इस ज्ञान पर निर्भर नहीं करता कि कम्युनिज्म-समाज के लिये हानिकारक है। कम्युनिज्म क्या है; हानिप्रद है या लाभप्रद, यह अभी उन्हें जानना है।

भाई जैनेन्द्र जी के इस व्यवहार का एक ऐतिहासिक उदाहरण मुझे याद आता है। वह उदाहरण है कुमारिल भट्ट का, जिस ने वेदोक्त धर्म की रक्षा करने और बौद्ध धर्म का विरोध करने के लिये बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया था। कुमारिल भट्ट ने बौद्ध दर्शन का ज्ञान न होते भी बौद्ध दर्शन का नाश करके वेदोक्त धर्म की रक्षा की प्रतिज्ञा एक राजकुमारी के आँसुओं से द्रवित होकर की थी। राजकुमारी बौद्ध धर्म से इसलिये आशंकित थी कि बौद्ध धर्म सनातन वर्ण-व्यवस्था से विद्रोह कर जन्म और वंशगत अधिकारों का विरोध करता था। वह द्विज-वर्ग की परम्परागत श्रेष्ठता को अस्वीकार करता था; ज्ञान और निर्वाण को सर्व-साधारण के लिये भी प्राप्य बताता था। बौद्ध धर्म द्वारा समता के इस प्रचार से बौद्धिक और आर्थिक शक्ति के परम्परागत स्वामियों की शक्ति और अधिकारों को ठेस पहुँचती थी। अहिंसा के प्रचारक बौद्ध धर्म में द्विज वर्ग को हिंसा दिखाई देती थी वैसे ही आज पूंजीपति वर्ग और गांधीवाद को हिंसा का विरोध करने वाले कम्युनिज्म में हिंसा दिखाई देती है। राजकुमारी अपनी श्रेणी और वंश के हाथ से वैदिक संस्कृति द्वारा अनुमोदित अधिकारों के छिन जाने की आशंका से रो पड़ी थीं। आँसू बहाती हुई वह पुकार उठीं—"किंकरोमि क्वगच्छामि को वेदानुधरिष्यति ?"*

राजकुमारी के आँसुओं ने कुमारिल भट्ट का ध्यान बौद्ध दर्शन द्वारा होने वाले अत्याचार की ओर आकर्षित किया। उन्होंने राजकुमारी को आश्वासन दिया—"मा रुदसि बाले ! कुमारिलभट्टोवेदानुद्धरिष्यति।"

वेदों का उद्धार या वेदोक्त व्यवस्था के अनुसार द्विज श्रेणी की श्रेष्ठता की रक्षा करने के लिये जिस बौद्ध दर्शन से 'फ़ाइट करने' की ज़रूरत थी, कुमारिल भट्ट उस दर्शन को नहीं समझते थे परन्तु कुमारिल भट्ट दो बातें खूब समझे थे। पहली बात यह कि बौद्ध दर्शन उन की प्रतिपालक और रक्षक द्विज श्रेणी के हित और अधिकारों पर आघात कर रहा है; और दूसरी बात, द्विज श्रेणी के सामाजिक और आर्थिक शासन की वेदोक्त व्यवस्था शाश्वत सत्य है। समता के प्रचार द्वारा द्विज श्रेणी के शासन के अधिकारों का विरोध करने वाली बौद्ध दर्शन के सत्य, अहिंसा और न्याय की मांग द्विज श्रेणी के

*मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, वेदों का उद्धार कौन करेगा ?

×हे बाले, रो मत ! वेदों का उद्धार कुमारिल भट्ट करेगा।

अधिकारों की हिंसा करती है इसलिये बौद्ध दर्शन से 'फ़ाइट करना' आवश्यक है।

भाई जैनेन्द्र जी के कम्युनिज्म को 'फ़ाइट करने' के निश्चय की जड़ में कौन धारणा और प्रवृत्ति या सम्पर्क हैं, यह जानने की इच्छा असंगत नहीं। यह जानने की इच्छा भी असंगत नहीं है कि वे किस शाश्वत सत्य, अहिंसा और न्याय को कम्युनिज्म के विग्रह से बचाना चाहते हैं ?

भाई जैनेन्द्र जी ने मेरे लेख 'विचारों की स्वतन्त्र सत्ता' से सात निष्कर्ष निकाले हैं। उन के शब्दों में वे इस प्रकार हैं :—

१. "जैनेन्द्र कहता है कि उसे कम्युनिज्म को फ़ाइट करना है।"
२. "आगे वही कहता है कि कम्युनिज्म को समझना भी है।"
३. "ध्यान दिलाया जाता है कि कम्युनिज्म को लड़ने का निश्चय है।"
४. "जैनेन्द्र कहता है कि वह निश्चय तो निश्चित है।"
५. "इस पर सहानुभूति पूर्वक यशपाल जी को देखना होता है कि जैनेन्द्र के पास विचार करने और समझने की स्वतन्त्रता नहीं, वह विवश है।"
६. "उसी सहानुभूतिपूर्ण अनुमान द्वारा उन्हें प्रतीत होता है कि वह विवशता जैनेन्द्र के आदर्शवादी होने के कारण है।"
७. "अत: सिद्धांत बना कि सम्यक् निर्णय के लिये विचारों को आदर्श में से नहीं, यथार्थ में से लेना होगा।"

इन निष्कर्षों के विषय में भाई जैनेन्द्र जी लिखते हैं—"ऊपर का क्रम बहुत साफ है। मुझे उस में असहमति नहीं देनी है, केवल यह कहना है कि सातवीं संख्या वाला सूत्र भाई यशपाल को सातवीं कड़ी पर नहीं मिला। उस से कड़ी का या संख्या का सम्बन्ध ही नहीं।"

यदि भाई जैनेन्द्र जी को ऊपर का क्रम बहुत साफ जान पड़ता है और उन्हें 'उस में असहमति नहीं देनी है' तो यह बात कैसे संगत हो सकती है कि 'सातवीं संख्या वाला सूत्र' मुझे वहाँ न मिले और उस का इस से सम्बन्ध न हो ? इस विषय में भाई जैनेन्द्र जी कहते हैं, "उसे (अर्थात सातवीं संख्या को) परिणाम इसलिये बनना हुआ है कि वही बीज है। वह उनके पास मौजूद रहा है, वह तकाजा है उस वफ़ादारी का जो अपने सम्पर्कों के प्रति उन्हों ने देय मानी है। वह जमीन है जिस पर उन्होंने अपने पाँव टेके हैं। वहीं से देखने और अन्त में वहीं पहुंचने को वह लाचार हैं।"

भाई जैनेन्द्र जी की बात से ध्वनि यह निकलती है कि मैंने एक परिणाम को लक्ष्य बना कर तर्क का एक चक्कर लगाया है और फिर उसी परिणाम पर पहुंच गया हूँ लेकिन इस परिणाम से भाई जैनेन्द्र जी असहमत नहीं हैं। उन्हें एतराज है केवल यह कि मैंने अपने सम्पर्कों के प्रति वफादारी निबाहने के लिए ऐसा किया है। सम्पर्कों से उनका अभिप्राय कम्युनिज़्म से है। उन्हें यदि इस बात से असहमति नहीं है कि 'सम्यक निर्णय के लिए आदर्शों में से नहीं विचार को यथार्थ में से लेना होगा' तो तर्क का यह तकाज़ा होगा कि कम्युनिज्म के यथार्थ को समझने से पहले उससे 'फाइट करने' का निश्चय न किया जाय। साधारणतः उन्हें कम्युनिज्म से भी विरोध न होना चाहिये क्यों कि कम्युनिज्म का दृष्टिकोण यथार्थ से विचारों को लेना ही है। भाई जैनेन्द्र जी ने कम्युनिज्म के तर्क से सहमति प्रकट करके भी उसे विग्रहवाद बताया है। शायद इसलिए कि 'वह तकाजा है उस वफादारी का जो अपने सम्पर्कों के प्रति उन्होंने (जैनेन्द्र जी ने) देय मानी है'। अब प्रश्न है कि जैनेन्द्र जी के वे कम्युनिज्म-विरोधी सम्पर्क कौन हैं ? हो सकता है भाई जैनेन्द्र जी अपनी सहृदयता के कारण इस विषय मे सचेत न हों परन्तु कम्युनिज्म-विरोधी सम्पर्कों को साधारण भाषा में, पूंजीवादी स्वार्थ ही कहा जाता है।

भाई जैनेन्द्र जी ने समझाया है--"मेरा निवेदन है कि कृपया शब्दों को लेकर अपने बीच दूरी हम न पैदा कर लिया करें।" स्वयं उनका व्यवहार शब्दों के आधार पर दूरी बनाने का ही दीखता है। कम्युनिज्म के दृष्टिकोण अर्थात यथार्थ से विचारों को लेने में उन्हें आपत्ति नहीं परन्तु कम्युनिज्म शब्द अप्रिय है; क्योंकि अपने लेख में उन्होंने कम्युनिज्म को रिवाइवलिज्म, मतांधता, अनम्रता, वैमनस्य और मतोन्मत्तता आदि पुकार कर कम्युनिज्म के प्रति अपनी अरुचि तो प्रकट की है, कम्युनिज्म के दृष्टिकोण का प्रतिवाद कहीं नहीं किया।

भाई जैनेन्द्र जी स्वीकार करते हैं--"सच है कि मैं कम्युनिज्म का ज्ञाता नहीं। यह भी सच है कि उस इज्म से लड़ना मैं आवश्यक समझता हूं" और इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसमें आदर्शवाद को घसीटने की जरूरत नहीं परन्तु भाई जैनेन्द्र जी अथवा उनकी विचारधारा द्वारा कम्युनिज्म के संहार का प्रयत्न देख कर हम यह जानना चाहते हैं कि कम्युनिज्म को 'फाइट करने' अथवा उससे लड़ने की आवश्यकता क्यों है ? यदि वे आदर्शवाद अथवा

सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की आर्थिक नैतिकता का समर्थन करने वाले आदर्शवाद, रामराज्य और गांधीवाद के समर्थन और रक्षा के लिये कम्युनिज्म से नहीं लड़ रहे तो किस बात के लिये लड़ रहे हैं ?

भाई जैनेन्द्र जी जैसे सहृदय और अहिंसापरायण व्यक्ति के बारे में हम यह कल्पना नहीं करना चाहते कि कम्युनिस्टों के प्रति उनकी अरुचि, विचारधारा का विरोध नहीं बल्कि कम्युनिस्टों से व्यक्तिगत वैमनस्य है। विरोध विचारों का है, व्यक्तिगत नहीं। कम्युनिज्म के समर्थकों का भी विरोध जैनेन्द्र जी से नहीं, उन की विचारधारा से ही है इसीलिये इस में आदर्शवाद को घसीटने की ज़रूरत है। कम्युनिज्म से लड़ने का सचेत या अचेतन परिणाम केवल व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर कायम व्यवस्था के आदर्शों और नैतिकता की रक्षा होगा। इसी व्यवस्था की दुहाई सुनकर और क्रांति की आशंका से पूँजीपति श्रेणी की आँखों में आँसू देखकर गांधी जी का 'अहिंसापरायण' हृदय चीत्कार कर उठा था—'मा रुदसि लक्ष्मी, गांधी रामराज्यमुद्धरिष्यति' (हे लक्ष्मी, रो मत, गांधी रामराज्य का पुनरुद्धार करेगा)। पूंजीवाद के अभयदान की इसी पुकार में स्वर मिलाना भाई जैनेन्द्र जी भी अपना अहिंसात्मक और सत्यपरायण 'सम्पर्क' और 'देय' समझते हैं। उन की कर्तव्य-निष्ठा के विषय में सन्देह की गुंजाइश नहीं। भाई जैनेन्द्र जी यदि अपने आप को पक्षपात (प्रेजुडिस) से मुक्त मानना चाहते हैं तो उन्हें केवल अज्ञान (इग्नोरेंस) की ही दुहाई देनी होगी।

कम्युनिज्म को शिकायत यह है कि भाई जैनेन्द्र जी विचारों को यथार्थ से नहीं ले रहे हैं। वे यह नहीं देखते कि सत्य, अहिंसा और न्याय का प्रयोजन बहुसंख्यक समाज की रक्षा है। समाज में सत्य, अहिंसा और न्याय का निर्णय बहुसंख्यक समाज के हित के प्रयोजन से होना चाहिये। आज परम्परागत आदर्शों द्वारा समाज में सत्य, अहिंसा और न्याय की रक्षा नहीं हो रही है।

कम्युनिज्म को समझे बिना उस को 'फ़ाइट करने' के लिये अपने निश्चय की सफ़ाई उन्होंने मेरी लिखी पुस्तक 'गांधीवाद की शवपरीक्षा' का हवाला देकर दी है। भाई जैनेन्द्र कहते हैं—"भाई यशपाल ने 'गांधीवाद की शवपरीक्षा' इस शर्त पर नहीं लिखी कि वे गांधीवाद के पूर्ण ज्ञाता थे। गांधीवाद के पूरे ज्ञानी होने से पहले उस वाद को शव बना लेना और उस की चीरफाड़ में पड़ने का उन्हें अधिकार न था, ऐसा मानने को मैं तैयार नहीं हूं।" यह

जैनेन्द्र जी की उदारता है कि वह बिना समझे-बूझे कोई बात कहने का अधिकार किसी भी व्यक्ति को दे सकते हैं। कम्युनिज्म का दृष्टिकोण स्वीकार करने वाले लोगों की दृष्टि में ऐसा व्यवहार समाज हित के अनुकूल नहीं है। मैं उचित विनयपूर्वक कहना चाहता हूँ कि मैंने 'गांधीवाद की शवपरीक्षा' गांधीवाद को समझे-बूझे बिना, आदर्शवाद और विचारों की शून्यता में नहीं की है। मैंने गांधीवाद को पार्थिव, सामाजिक और राजनैतिक परिणामों की कसौटी पर जांचने का यत्न किया है।

गांधीवाद का दावा इस देश की जनता के लिये स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना था। इसी उद्देश्य को मैंने भी जीवन के आरंभ में ही अपना लक्ष्य मान लिया था। इस उद्देश्य के लिये आरंभ में काम भी गांधी-सम्प्रदाय यानि गांधीवादी कांग्रेस में सम्मिलित हो कर ही किया था। गांधीवाद में मुझे इस उद्देश्य की पूर्ति की सम्भावना नहीं दिखाई दी। लाहौर-षड़यंत्र के मामले में फांसी पा जाने वाले भगतसिंह, सुखदेव और मैं इस परिणाम पर एक साथ ही पहुंचे थे।* अपने उद्देश्य के प्रति हम लोगों की अनुरक्ति इतनी उग्र थी कि अपनी समझ के अनुसार कुछ उठा नहीं रखा था। लाहौर के प्रथम, द्वितीय और दिल्ली-षड्यंत्र केस के मामलों से परिचित बहुत से लोग यह जानते हैं कि उस धुन में लगे रहने पर भी यदि मैं भगतसिंह, सुखदेव और आज़ाद के बाद भी आज ज़िंदा हूँ, यदि लगभग १८-२० वर्ष पूर्व ही मुझे फांसी पर नहीं लटका दिया गया तो यह अंग्रेज़ी राज की पुलिस की असफलता ही थी।

मैंने गांधीवाद के सैद्धांतिक और क्रियात्मक दोनों ही रूपों को अपने चर्म चक्षुओं से, उसके पूरे इतिहास में देखा है और उसे जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार पाने के प्रयत्न से रोकने का प्रयत्न-मात्र ही पाया है। गाँधीवाद के इस शव को सदा के लिये जनता के मस्तिष्क पर बंधन न बना दिया जाय, इस अभिप्राय से इस शव की वास्तविकता की ओर ध्यान आकर्षित करना मैंने अपना कर्तव्य समझा है। मैं यह मानने के लिये तैयार नहीं कि गांधीवाद में कोई अज्ञेय और अगम दार्शनिकता की गुत्थियाँ समाई हुई हैं जिन्हें सर्व-साधारण लोग समझ नहीं सकते। जनता गांधीवाद को तर्क की कसौटी पर

---

* इन घटनाओं का पूर्ण ऐतिहासिक विवरण और ब्यौरा लेखक की पुस्तक 'सिंहावलोकन' में है।—प्रकाशक

न जांचे, इसलिये उसे परिस्थितियों और तर्क से स्वतंत्र, भगवान की प्रेरणा बता दिया जाता है। मेरी दृष्टि में यह एक सामाजिक प्रवंचना और अपराध है।

समाज की स्वामी श्रेणी और उनके आश्रित आज प्राचीन व्यवस्था के आदर्शों को गांधीवाद का चोला पहना कर उन के प्रचार में क्यों लगे हैं? इसका कारण समाज में परिवर्तन की जबरदस्त मांग सुनाई देना है। आज समाज के निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं की पैदावार बहुत ही विस्तृत और सामूहिक रूप में की जा रही है परन्तु इस पैदावार का उद्देश्य थोड़े से मालिक लोगों का मुनाफा बना हुआ है। ऐसी अवस्था में पैदावार के साधनों पर कुछ लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व और समाज द्वारा सामूहिक रूप से की गई पैदावार पर कुछ लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व असंगत है। वह अन्याय और विषमता को जन्म देता है। समाजहित के दृष्टिकोण से पैदावार के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था अथवा इस व्यवस्था का समर्थन करने वाली सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणाओं में परिवर्तन आवश्यक है।

समाज के जीवन निर्वाह के ढंग और व्यवस्था से समाज के आदर्श और विचारधारा निरपेक्ष नहीं रह सकते। आदर्शों और विचारों की स्वतन्त्रता का केवल एक अर्थ सम्भव है कि उन्हें समाज की भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल ढाला जा सके। सत्य, अहिंसा और न्याय को मनुष्येतर शक्ति द्वारा निश्चित, शाश्वत और अपरिवर्तनशील मान लेने से मनुष्य न तो अपने आदर्शों और विचारधारा का स्रष्टा रह जाता है, न उसे सामाजिक आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल सामाजिक हित के लिये आदर्शों और विचारधारा में परिवर्तन कर सकने का अवसर रह जाता है अर्थात् विचारों की सत्ता तो स्वतन्त्र हो जाती है परन्तु मनुष्य परवश हो जाता है। सत्य, अहिंसा और न्याय की किसी भी धारणा को शाश्वत बताना ऐतिहासिक वास्तविकता की कसौटी के आधार पर केवल प्रलाप और धोखा ही प्रमाणित होता है। इतिहास सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणाओं में परिवर्तन की परम्परा-मात्र ही है। इतिहास बताता है कि भगवान और उस की प्रेरणा सामाजिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं; न भगवान के सम्बन्ध में हमारी धारणा शाश्वत है, न उन की प्रेरणा।

मैंने अपने लेख में इस बात की ओर विशेष संकेत किया था कि इतिहास की उपेक्षा कर सत्य, अहिंसा के सम्बन्ध में अपनी धारणा को शाश्वत और

अपरिवर्तनशील बताने का प्रयोजन केवल आध्यात्मिक और नैतिक कलाबाज़ी नहीं बल्कि ठोस और आर्थिक है। यह प्रयोजन इस समय समाज में चालू आदर्शों अर्थात पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था को न्याय मानकर उस की रक्षा करना है। यह शोषण के अधिकारों पर भगवान के नाम की मोहर लगाकर सर्व-साधारण जनता को धोखा देना है; यह सर्व-साधारण जनता की विचार स्वतन्त्रता का अपहरण है।

भाई जैनेन्द्र जी ने मुझे समझाने की चेष्टा की है कि विग्रहवाद क्यों ? अर्थात् मेरा और उन का मतभेद वास्तविक नहीं. केवल शब्दों का है। मुझे सहिष्णुता की यह सहृदयता सिखा और मेरे परिणामों से सहमति प्रकट करके भी भाई जैनेन्द्र जी सत्य, अहिंसा और न्याय की शाश्वत धारणा के प्रति मेरी शंका को सहन नहीं कर सके। मेरे प्रति सहिष्णु होकर उन्होंने अपना क्षोभ कम्युनिज्म के प्रति प्रकट किया है। उन की सहिष्णुता और सहृदयता का तकाज़ा है कि सत्य, अहिंसा और न्याय की शाश्वत धारणा यानि गांधीवाद के प्रति आपत्ति न की जाये।

भाई जैनेन्द्र जी ने अपने लेख में समझाने का यत्न किया है कि 'विग्रह-वाद क्यों ?' उन्होंने अपने दृष्टिकोण को यों स्पष्ट किया है—"शाब्दिक व्यर्थताओं को बीच में डाल ले कर यह समझने का अवसर नहीं है कि जैनेन्द्र एक तरह से चलता है यशपाल दूसरी तरह से चलते हैं। आदमी एक मशीन है। मशीन करीब-करीब एक तरह से काम करती है।" अभिप्राय यह है कि मैंने अपने लेख में भाई जैनेन्द्र जी से हुए वार्तालाप का उदाहरण देकर आदर्श-वादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण का जो भेद प्रकट किया है, वह केवल शाब्दिक व्यर्थता है, केवल शब्दों का भेद है। मुझे ऐसा नहीं जान पड़ता। मने शब्दों के फेर से विग्रह उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की। विग्रह को मैं दिल-बहलाव का साधन नहीं समझता। विग्रह तो है। मेरा प्रयत्न है कि हम भौतिक यथार्थ के आधार पर विचार करें और समाजहित के दृष्टिकोण से विग्रह के कारणों को दूर कर सकें। भाई जैनेन्द्र जी का आशय है कि विग्रह का कोई कारण है ही नहीं, हम में केवल सहिष्णुता और प्रीति का अभाव है।

मैंने लिखा था—"मनुष्य और समाज से रिक्त देश और स्थान में किसी भी आदर्श और विचारधारा की कल्पना नहीं की जा सकती। सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणा अथवा आदर्शों का निर्णय मनुष्य-समाज की परिस्थितियों

और आवश्यकताओं के अनुकूल व्यवस्था की रक्षा करने के लिये मनुष्य-द्वारा ही किया जाता है।" इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य-समाज की परिस्थितियाँ, निर्वाह के साधन और सम्बन्ध बदलते रहते हैं। सभी कालों में समाज के शासकवर्ग द्वारा कायम की हुई व्यवस्था ही समाज के आदर्श या सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणा का रूप निश्चित करती है। समाज के निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को सामूहिक रूप से पैदा करने और इन पदार्थों को समाज के व्यक्तियों में बाँटने के लिये ही समाज में व्यवस्था कायम की जाती है। सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणा के आदर्श समाज की व्यवस्था का समर्थन करने के लिये ही बनाये जाते हैं। समाज की व्यवस्था समाज द्वारा स्वीकृत आर्थिक प्रणाली का ही रूप होता है। अतः सत्य, अहिंसा और न्याय का आधार समाज के आर्थिक सम्बन्ध ही होते हैं। निर्वाह के साधन बदल जाने पर इन साधनों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक, सामाजिक या आर्थिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं और इन सम्बन्धों की व्यवस्था करने वाली सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणाएँ भी बदल जाती हैं। समाज में ऐसा ही होता रहा है, इतिहास इस बात का साक्षी है और भविष्य में भी ऐसा ही होने की आशा है।

भाई जैनेन्द्र जी लिखते हैं—'भेद जहाँ हैं वहाँ आदर्शवाद और यथार्थवाद जैसे शब्दों की पटेबाजी नहीं पहुंचेगी। वादों और वादियों को यह भेद युद्ध का अवसर देता दीख सकता है दूसरों को वही सहिष्णुता, सहानुभूति और प्रीति की आवश्यकता जान पड़ती है।' मतभेद के कारण जिन दो प्रभावों का ज़िक्र भाई जैनेन्द्र जी करते हैं, उस से यह ध्वनि निकलती है कि कम्युनिस्ट अर्थात वामपक्ष के लोग मतभेद के नाम पर युद्ध का अवसर खोजते हैं दूसरे अर्थात गांधीवादियों को ऐसे मतभेद से सहिष्णुता, सहानुभूति और प्रीति की आवश्यकता अनुभव होती है। भाई जैनेन्द्र जी के व्यवहार को मैं गांधीवादी दृष्टिकोण का उदाहरण मानता हूँ और उनके व्यवहार की कसौटी पर यह देखना चाहता हूँ कि क्या मतभेद से उन्हें सहिष्णुता, सहानुभूति और प्रीति की आवश्यकता अनुभव होती है? ऐसी अवस्था में 'कम्युनिज्म को फ़ाइट करने' की उनकी इच्छा को हमें 'सहिष्णुता, सहानुभूति और प्रीति' का ही परिचायक मान लेना पड़ेगा। सहिष्णुता, सहानुभूति और प्रीति का ऐसा परिणाम केवल तभी संभव है जब ये शब्द यथार्थ भावना से नहीं परन्तु यथार्थ

को छिपाने के प्रयोजन से व्यवहार किये जायँ।

कम्युनिज्म के प्रति विरक्ति प्रकट करने के लिये भाई जैनेन्द्र जी कहते हैं—"इज़्म के तौर पर वह (कम्युनिज़्म) दूषित है। दोष इसी में प्रकट है कि वह इज़्म पर दावा करता है, सत्य के प्रति नम्र नहीं बनता।" इज़्म अर्थात वाद से सत्य को पृथक मानने का केवल एक अर्थ हो सकता है—परिवर्तनशील वादों से भिन्न किसी एक शाश्वत सत्य को मानना अर्थात वाद तो बदलते जाते हैं, सत्य नहीं बदलता। यदि वाद और सत्य पृथक्-पृथक् हैं तो गांधीवाद और सत्य भी पृथक्-पृथक् हैं। यदि जैनेन्द्र जी की वास्तव में यही वैज्ञानिक धारणा है कि शाश्वत सत्य किसी भी वाद द्वारा प्रकट नहीं होता, तो किसी वाद विशेष की तुलना में कम्युनिज्म को ही 'फ़ाइट करने' की उनकी प्रवृत्ति केवल एक व्यक्तिगत शौक-मात्र रह जाता है, जिसका कोई दार्शनिक पहलू नहीं ढूँढ़ा जा सकता परन्तु बात ऐसी नहीं है।

भाई जैनेन्द्र जी सत्य, अहिंसा और न्याय के एक विशेष रूप के प्रति आस्था के कारण ही कम्युनिज्म को 'फ़ाइट करना' आवश्यक समझते हैं। कम्युनिज्म के ध्वंस की उनकी प्रतिज्ञा उसी व्यवस्था के लिये अभयदान का आश्वासन है, जिस व्यवस्था के जन-समाज के लिये असह्य हो जाने पर कम्युनिज्म ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में विकसित हुआ है।

यदि भाई जैनेन्द्र जी अपने आपको इस 'विग्रह' से ऊपर, किसी अमानवीय स्थिति में समझे बैठे हैं तो यह अचेतन अवस्था का मानसिक संतोष मात्र है, यथार्थ सहिष्णुता नहीं। इस सहिष्णुता का परिणाम शोषक श्रेणी के अधिकारों की स्वीकृति है और जैनेन्द्र जी इसे अपने सम्पर्कों के प्रति अपना देय समझते हैं।

मैं कम्युनिज़्म को सर्व-साधारण जनता की मुक्ति का साधन, वैज्ञानिक विचारधारा समझता हूँ इसलिये कम्युनिज्म से अपना सम्पर्क स्वीकार करता हूँ। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उस वाद के प्रति 'देय' स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं।

७

यह नैनीताल है

बहुत ऊंचे पहाड़ों से घिरी नैनीताल की बड़ी झील के किनारे बैठ कर मूझे सदा ही संतोष और उलझन की भी अनुभूति होती है। सन्तोष की अनुभूति के कुछ व्यक्तिगत पहलू हैं। मुझे पहाड़ और जल दोनों ही सुहावने लगते हैं। नैनीताल की झील की अपेक्षा कश्मीर की 'डल' झील पहाड़ों और जल के विस्तार का बहुत ही अधिक सुन्दर और आकर्षक संयोग है। उसे एक ही बार देख सका हूँ, बार-बार वहाँ तक पहुँचने के साधन नहीं हैं। डल झील श्रीनगर की बस्ती से जरा परे है; मानो प्राकृतिक शोभा नागरिक जीवन के संघर्ष से घबराकर हट गई हो परन्तु नैनीताल की झील में बस्ती की परछांई ऐसे पड़ती है जैसे तालाब के किनारे खड़ा व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब जल में पाताल की ओर धंसता देख रहा हो। जल, पहाड़, ठण्डी हवा, कोहरे और स्वच्छ वातावरण के अतिरिक्त नैनीताल में कुछ और भी है या मुझे अनुभव होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य और मनुष्य निर्मित वैभव का ऐसा मेल और निकटता किसी दूसरी जगह नहीं दिखाई देते। मैं प्रकृति के सौन्दर्य और मनुष्य निर्मित वैभव दोनों का ही आकर्षण अनुभव करता हूँ इसलिये नैनीताल में एक सन्तोष पाता हूँ।

संक्षेप में नैनीताल की उपमा हिन्दू-विवाह के लिये खूब सुसज्जित मंडप से दी जा सकती है। बीच में धुयें जैसे कोहरे के बादल उड़ाती झील को हवनकुंड समझ लीजिये। चारों ओर घनी हरियावल की सजावट से पटी पहाड़ियाँ। सभी स्त्री-पुरुष उत्सव के समय के अच्छे से अच्छे कपड़े पहने हुए पुलक और किलक भरे, चहल-पहल। चारों ओर विवाह के उत्सव में योग देने वाले पुलकते-किलकते काम-काजी लोगों के समूह की भीड़। जिनके अस्तित्व का

प्रयोजन आमंत्रितों को सुविधा पहुँचा कर उत्सव को सफल बनाना ही है। उत्सव में सम्मिलित लोग उत्साह से अपना पूरा सौन्दर्य और वैभव दिखा देने के लिये उतावले रहते हैं। काम-काजी लोग--डोटियाल (बोझ ढोने वाले कुली), डांडी उठाने और रिक्शा-खींचने वाले कुली और छोटे-मोटे दुकानदार उत्सव के संयोग से अपना पेट भर पाने के लिये व्याकुल रहते हैं। बराती और काम-काजी लोगों का अन्तर नैनीताल की बस्ती के बंगलों, बाज़ार और सड़कों पर समाज के दो भागों के रूप में बहुत स्पष्ट दिखाई देता रहता है, समाज का एक भाग साधनों के प्रतिनिधि पैसे को जेब में भरे संसार के सब संतोष और सेवाओं को खरीद सकता है और समाज का दूसरा भाग इस पैसे के अभाव में उदास और कातर आंखों से पैसे को वश में किये लोगों की ओर देखता रहता है।

नैनीताल को मनुष्य की सभ्यता के विकास व मनुष्य-समाज के वैभव और सामर्थ्य का प्रतीक समझा जा सकता है। एक दिन पहाड़ की बहुत ऊंचाई पर बने एक बंगले में जाने पर बंगले के निवासी किरायेदार सज्जन ने गर्व से बताया कि उनका बंगला नैनीताल की बस्ती की सबसे पुरानी इमारत है। किसी साहसी अंग्रेज़ ने सब से पहले उस पहाड़ी पर आकर रहने का निश्चय किया था और यह बंगला बनाया था।

इस बंगले का इतिहास मुझे याद दिला देता है कि एक समय नैनीताल की सुन्दर झील के किनारे इन पहाड़ों पर मनुष्य की बस्ती नहीं थी। यह झील उस समय भी रही होगी, झील को घेरे हुए पहाड़ भी रहे होंगे परन्तु तब पहाड़ और जल के सौन्दर्य का यह संयोग सुन्दर था या नहीं ? सुन्दर था तो किस की आँखों में ? मनुष्य की बस्ती से दूर या मनुष्य के प्रभाव से अछूते कुछ पहाड़ों और झरनों को भी देखने का अवसर मुझे मिला है। मुझे ऐसी जगह सदा ही एक विभीषिका जान पड़ती है। मनुष्य की शक्ति से अछूते उन स्थानों में मुझे मनुष्य के प्राणों के लिये संकट दिखाई दिया है। जहाँ प्राणों पर संकट अनुभव हो, वहाँ सौन्दर्य की उपस्थिति होने पर भी मन टिक जाने को नहीं भाग जाने को ही होता है। प्रकृति का वह सौन्दर्य, रस्सी और डोल के बिना बहुत गहरे कुयें में तारे की तरह चमकते जल जैसा ही समझिये जिसे प्यास से गला सूखने पर भी निकाला नहीं जा सकता। कुयें में गिर जाने का भय मन को दहला देता है।

अन्य पहाड़ों की तरह नैनीताल में भी बरसात अधिक होती है। कुछ अधिक ही; क्योंकि झील में से उठा वाष्प ही बादल बन कर जब-तब बरसता रहता है। नैनीताल लगातार धुलता रहने से उजला-उजला बना रहता है। धुली-धुलाई बनस्पति और बनस्पति से घिरे बंगलों की छतों के रंग धूप निकलने पर निखरे और चोखे लगते हैं। सड़कों के किनारे और आंगनों में लगाये फूल-पौधे आकाश से नत्रजन (नाइट्रोजन) लिए जल से सिंचते रहने के कारण साधारण आकार से बड़े और भव्य; जैसे सुख, सुविधा और चौकसी में पले समृद्ध श्रेणी के बालक हों। कभी-कभी बादल मचल बैठते हैं तो सूर्य आठ-दस दिन के लिए लापता, झड़ियां लग जाती हैं। सैलानी लोगों को झड़ियाँ खल जाती हैं। सैर का अवसर नहीं रहता। बढ़िया पोशाकें, जिनका प्रदर्शन नैनीताल का एक बड़ा संतोष है, बरसातियों (रेनकोटों) के नीचे ढंक जाती हैं। कुछ लोग ऊब कर कह उठते हैं—अति वर्षा नैनीताल का अभिशाप है। जरा बादल फटे कि झील, मकान, भीगी बनस्पति और फूल सभी चमचमा उठते हैं और स्वच्छ सड़कों पर, इन्द्रधनुषों के टुकड़ों के रूप में रमणियाँ और भले आदमी बिखर जाते हैं।

नैनीताल में आती-जाती धूप ऐसी जान पड़ती है जैसे राग-रंजित (लिपस्टिक लगे) होठों में मोती जैसे दांतों और गोरे चेहरे पर कजियारे, चंचल नयनों से अट्टाहास करती युवती हो। वह तो भली लगती ही है परन्तु मुझे आकाश पर छाई श्यामलता और रिमझिम भी सन्तोष देती है। वह रूपवती प्रणयनि ही क्या जो मान न करे? प्रेम और प्रणय में जहाँ अधिकार का भाव आया, तहाँ मान और रुठना होता ही है। शायद यही प्रणय की गम्भीरता है इसलिये घने बादलों से ढंका, मुंह फ़ुलाये माननी जैसा नैनीताल मुझे गम्भीर लगता है, खास कर इसलिये कि ऐसे समय पढ़ने और सोचने का अवकाश अधिक मिलता है। वर्षा में भीगने से बचने के सभी साधन (अच्छी बरसाती और घुटनों तक रबड़ के जूते) होने पर वर्षा में घूमना भी अच्छा लगता है, मानों वर्षा को रौंदते चले जा रहे हैं, वह हमारे कार्य-क्रम में विघ्न नहीं डाल सकती।

यह न कहना ही अच्छा है कि नैनीताल में सभी लोग बरसाती और रबड़ के ऊंचे जूते नहीं पहने रहते, न बरसातियों से ढंकी डांडियों और रिक्शाओं में आते-जाते हैं। रिक्शाओं को खींचने और डांडियों को ढोने वाले

कुली नंगे पाँव और भीगे कपड़ों में ही दिखाई देते हैं। डोटियाल की पीठ पर साहब और सेठ का सामान बरसाती से ढंका रहता है परन्तु डोटियाल का शरीर भीगता रहता है। ऐसी बातों की ओर ध्यान देने से नैनीताल का रस भंग हो जाता है। नैनीताल इन लोगों के लिये तो नहीं, यह तो नैनीताल के साधन-मात्र हैं। मैं बरसात में नैनीताल की रोचकता और अरोचकता की बात कर रहा था। हाँ, तो जब बरसात इतनी खिच जाती है कि उस का प्रभाव मकानों की दीवारों, फर्नीचर और कपड़ों पर ही नहीं पहाड़ की पसलियों पर भी पड़ने लगता है ता बरसात के मेरे जैसे शौकीन भी परेशान हो जाते हैं, 'रूठने वाले मुहब्बत को मुसीबत न बना !'

झील की बाईं ओर के पहाड़ रेतीले हैं। जब कई-कई दिन लगातार बरसता रहता है, यह पहाड खिसकने लगते हैं। इन पहाड़ों के खिसकने का अर्थ है, ढलवान पर बने बंगलों का बिखर कर झील में जा गिरना। यह प्रकृति का खेल है परन्तु मनुष्य को प्रकृति का यह खेल मंजूर नही। मनुष्य ने पत्थर और सीमेण्ट के बड़े-बड़े पुस्ते लगाकर पहाड़ों को बाँध दिया है। प्रकृति की विराट परिहास करने की स्वतन्त्रता छीन ली है। पहाड़ जब चाहे गिर जायें, यह अब पहाड़ों के बस की बात नहीं। कुछ जगह यह झील कई सौ फुट गहरी है परन्तु इस अनन्त गहराई पर मनुष्य निर्भय होकर नौका-विहार की लीला करता है। झील में नीचे से भी जल फूटता है और प्याले के किनारों की तरह झील को घेर कर खड़े गगनचुम्बी पहाड़ों की ढलवानों पर पड़ने वाला जल भी इस झील में इकट्ठा होता है। जब अभी मनुष्य की आँख इस झील पर नहीं पड़ी थी, झील में बरसात से इकट्ठा हो जाने वाला जल बाढ़ बन कर नीचे तराई के गांवों को बहा देता था। यह जल मनचाहे ढंग से बहता रहकर गर्मियों में किनारों पर बहुत दूर-दूर तक रेती छोड़ देता था।

आज झील का जल अपनी इच्छानुसार नही बह सकता। अब जल को झील के किनारे-किनारे उसे मेखला की तरह घेरे रहने वाली सुथरी सड़क के साथ-साथ रहना पड़ता है। इस जल को पूरे नैनीताल में रोशनी और आवश्यक गरमाहट पहुँचा सकने के लिए बिजली पैदा करनी पड़ती है और नियमित रूप से बह कर तराई में खेतों की सिचाई करनी पड़ती है। इस झील के किनारे हिंदू के चौके की तरह धुली और झड़ी हुई सड़क पर धूल को कभी हाथ न लगाने वाले सभ्य पुरुष बढ़िया से बढ़िया कपड़ों में और बहुमूल्य रेशम

के इन्द्र धनुषों में लिपटीं, शरीर की त्वचा को इच्छानुसार गोरी बनाये और होठों और नाखूनों को लाल रंगे रमणियाँ अपनी परछाईं झील के पानी में देख सकती हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी कई सज्जन नैनीताल के प्रति मेरे आकर्षण और सराहना से खीझ उठते हैं। वे नैनीताल की कृत्रिमता से ऊब जाने की बात कहते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति का सौन्दर्य प्राकृतिक अवस्था में ही सराहनीय होता है ? वे 'विनसर', कौसानी' और 'पिंडारी' जाकर प्रकृति की शोभा और शान्ति देखने का परामर्श देते हैं। उन स्थानों को भी मैं देख चुका हूँ। जब अभी मनुष्य ने नैनीताल को अपने उपयोग के लिये संवारा नहीं था, यह स्थान भी वैसा ही था। प्राकृतिक अवस्था में नैनीताल की शोभा की कल्पना कर लेना कठिन नहीं है।

यदि मनुष्य ने पहाड़ की इन ढलवानों पर सड़कें और पगडंडियां न बना दी होतीं तो इन पर पहुंचना जान-जोखिम का काम था। कैसी जोखिम ? यह वही लोग अनुमान कर सकते हैं जो कभी बिना पगडण्डी के सीधे ढालू पहाड़ों पर चढ़ने का यत्न कर चुके हैं। दोनों हाथों की भी सहायता लेनी पड़ती है। हाथों से झाड़ियों, छोटी-छोटी टहनियों और चट्टानों के कोने पकड़-पकड़ कर पंजे भर अटकाने की जगह टटोल कर चढ़ना पड़ता है। हाथ या पांव फिसल जाने पर पत्थर की तरह लुढ़कते-लुढ़कते शरीर के टुकड़े हो जाने की आशंका से मन धक-धक करता रहता है; बस ऐसा समझ लीजिये कि कोई चोर खिड़कियों की कानसों पर पांव रख-रख इनके सहारे ऊंचे मकान की चौथी-पांचवी मंजल पर चढ़ने का साहस करे।

झील के किनारे खड़ी इन ढलवानों पर फूलों से घिरे बंगलों की जगह, जहाँ से आज आधी रात में भी प्यानो और वायलिन की स्वर लहरियां सुनाई देती हैं, उस समय चट्टान पर खड़े शेर, झील में अपनी परछाईं को अपना प्रतिद्वन्दी मान, दहाड़ते सुनाई पड़ते होंगे। प्रकृति को लगाम लगाकर मनुष्य के उपभोग के लिए साध लेना, प्रकृति के भक्तों के विचार में कृत्रिमता है। ऐसी कृत्रिमता से ऊबने का नखरा मनुष्य तभी करता है जब वह उच्छृङ्खल प्रकृति के भय को भूल जाता है।

यह ठीक है कि प्रकृति में भी अद्भुत सौंदर्य है। चट्टान पर खड़ा दहाड़ता हुआ शेर, एक चामत्कारिक दृश्य है। हाथी के शरीर से भी बड़ी काली-काली

चट्टानों में नदी का दुर्दम वेग से टकरा कर बहना और कई गज ऊंचाई तक फ़ेन उछालना भी एक रोमांचक सौंदर्य है परन्तु शेर के पंजे के नीचे आ जाना और ऐसी नदी के प्रवाह में फंस जाना सौंदर्य नहीं समझा जा सकता। ऐसी उच्छृङ्खल प्राकृतिक परिस्थितियों के सौंदर्य को मनुष्य तभी सराह सकता है जब वह स्वयं इनके भय से निरापद हो, उसका पेट भरा हो और अतिशीत और ऊष्णता उसे व्याकुल न कर रही हो। मेरी धारणा है कि सबसे बड़ा सौंदर्य प्रकृति को वश में कर मनुष्य का निरापद हो जाना और प्रकृति को मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति में साध लेना ही है। प्रकृति को वश में कर उसे अपने उपयोग में ले आने की कृत्रिमता से खीझने या ऊबने का कारण क्या? इसे क्या प्रकृतिवादियों का बौद्धिक उन्माद (इन्टलेक्चुअल-हिस्टीरिया) अथवा वैराग्यवृति मान कर ही सराहना होगा?

यह विज्ञान का युग है। साहित्यकों में आज मनःतत्व के विश्लेषण का बहुत जोर है। उपरोक्त बौद्धिक उन्माद या वैराग्यवृत्ति के कारण अथवा संयम को महत्व देकर जीवन को अधिक सार्थक बनाने की इच्छा से कृत्रिमता के विरोध की भावना का विश्लेषण क्यों न किया जाये? कृत्रिमता का यह विरोध जीवन के सभी क्षेत्रों में, स्त्रियों के लिपस्टिक, पाउडर लगाने से लेकर बड़ी-बड़ी मिलें बनाने और व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति बना देने के सुझाव के विरुद्ध भी देखा-सुना जाता है। मनुष्य अपनी ही सूझ और श्रम की उपज को कृत्रिम बताने लगता है। मनुष्य की सूझ और श्रम से जीवन को अधिक संतुष्ट बनाने के प्रयत्न में यदि कृत्रिमता है तो प्राकृतिक अवस्था क्या है? मनुष्य की प्राकृतिक और कृत्रिम स्थिति को बांटने वाली रेखा कहाँ मानी जाये?

भौतिक सभ्यता के प्रभाव से अछूते मनुष्य-समाज को ही सब से अधिक प्राकृतिक माना जाना चाहिये। मनुष्यों की अपेक्षा पशु अधिक प्राकृतिक हैं। पालतू पशुओं की अपेक्षा जंगली पशु अधिक प्राकृतिक हैं। प्राकृतिक अवस्था की कसौटी जीव का प्रकृति के वश में होना है। प्रकृति का मनुष्य की आवश्यकता और इच्छानुसार चलना कृत्रिमता है। जब मनुष्य-समाज भौतिक विकास करके प्रकृति को अपनी आवश्यकतानुसार चलाता है तब भी वह प्रकृति पर ही निर्भर रहता है परन्तु प्रकृति और पुरुष के संघर्ष में पुरुष सबल हो जाता है। पुरुष को हर घड़ी जल के किनारे नहीं जाना पड़ता, वह जल को ऐसे

कर लेता है कि जल उसके घर में आता रहे। प्रकृति पर पुरुष का वश ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, पुरुष का जीवन कृत्रिम होता जाता है अर्थात् मनुष्य का जीवन मनुष्य के विकास से पैदा हुई सूझ के अनुसार कृत्रिम होता जाता है। मनुष्य की यह कृत्रिमता ही उसका विकास और विजय है। प्रकृति पर मनुष्य की इस विजय या कृत्रिमता का प्रयोजन और उद्देश्य मनुष्य-समाज को सन्तुष्ट बनाकर भावी विकास का अवसर देना है।

कृत्रिमता अर्थात् प्रकृति पर मनुष्य के वश या विजय से, स्वयं अपनी शक्ति से, हमें खीझ या ऊब क्यों आने लगती है ? इसलिए कि खास-खास अवस्थाओं में कृत्रिमता या प्रकृति पर मनुष्य की विजय अपना उद्देश्य ठीक से पूरा करती दिखाई नहीं देती। प्रकृति पर मनुष्य की विजय या उसके जीवन की कृत्रिमता अब तक रचनात्मक मार्ग पर चलती रहती है, वह मनुष्य-समाज को सुखी बनाती रहती है। मनुष्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रकृति पर समाज का अधिकार बढ़ने के साथ-साथ समाज के अधिकांश व्यक्तियों के जीवन की सुख-सुविधा बढ़ती गयी है। यूरोप, अमेरिका के भौतिक रूप से अधिक विकसित समाज में जो सुख-सुविधा एक साधारण व्यक्ति के लिये प्राप्त है, वह हमारे समाज में साधारण से अधिक धन रखने वाले लोगों के लिये ही सम्भव है। हमारे समाज में जो सुख-सुविधा आज मध्यम श्रेणी के लोगों को प्राप्त हैं, वे मशीनों के विकास से पूर्व केवल उन्हीं सामन्तों या जगत सेठों के लिये सम्भव थी, जो पचास-साठ सेवक या दास अपनी सेवा के लिये रख सकते थे, जिनके दरवाज़े पर हाथी-घोड़े पालकी खड़े रहते थे।

सम्राट चन्द्रगुप्त और जहाँगीर के समय घर में रात भर प्रकाश केवल सामन्तों के यहाँ ही हो सकता था। आज अधिकांश शहरों के सभी गली-कूचों में रात भर दिन सा प्रकाश बना रहता है परन्तु जब प्रकृति पर मनुष्य की विजय रचनात्मक मार्ग पर बाधा पाने लगती है तो वह समाज को ही खाने लगती है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि मनुष्य जब पूरे समाज के हित के लिये प्रकृति पर अपना अधिकार बढ़ाकर जीवन को सुखी बनाने का मार्ग छोड़ देता है तो वह अपने निर्बल सहयोगियों पर अपना व्यक्तिगत अधिकार बढ़ा कर सुखी होने की चेष्टा करने लगता है। अर्थात् समाज के सबल लोग निर्बल लोगों को खाने लगते हैं। मनुष्य की प्रकृति पर विजय या प्रकृति और अपने आपको अपनी सूझ के अनुसार बना सकने की शक्ति में

अंतरविरोध कैसे प्रकट होते हैं; यह नैनीताल के जीवन में आप जब चाहें देख सकते हैं, ध्यान उधर जाने भर की बात है।

झील के किनारे 'कैपिटल' सिनेमा के समीप नैनीताल का एक मात्र बड़ा मैदान है। प्रति संध्या, यदि बरसात बाधक न बन जाये तो, यहाँ भद्रसमाज का समारोह होता है। किसी भी परिचित को खोजना हो, सन्ध्या समय यहाँ का एक चक्कर विफल नहीं जाता। वहाँ जाने का एक प्रयोजन अपनी पोशाक और सज-धज दिखाना और दूसरों की देख लेना भी होता है। मुझे इस भीड़ में जाने का कौतूहल रहता है। जाते प्रायः सभी हैं परन्तु कुछ लोग हैं जो वहाँ देखे जाने पर झेंप अनुभव कर भीड़ की आलोचना द्वारा ग्लानि प्रकट करते हैं। उन्हें यह स्वीकार करने में संकोच होता है कि वे स्त्री-पुरुषों का सौन्दर्य और बनाव-सिंगार देखने आये हैं। मजा यह कि वहाँ जाये बिना रह भी नहीं पाते।

एक संध्या प्रदर्शन की होड़ के इस अखाड़े में एक खद्दरधारी 'दम्पति' से सामना हो गया, पूछा—"हैं, आप लोग यहाँ ?"

"यहीं तमाशाइयों का तमाशा देख रहे हैं ज़रा" श्रीमती जी ने रंग-बिरंगी भीड़ की ओर वितृष्णा से संकेत किया और मन में भरे क्षोभ से कहती चली गईं, "....जाने कितना पाउडर, होठों की सुर्खी, सुरमा, काजल खत्म हो जाता होगा नैनीताल में ? देखिये, सांवले को गोरा बनाने तक ही हद नहीं" अपने माथे को छू कर उन्हों ने परेशानी प्रकट की, "भवें मूंड़ कर नई भवें बनाई जाती हैं, देखा नहीं आपने ?"

"तो इसमें आपको आपत्ति ?" सहमते हुये जानना चाहा।

"क्यों, जैसा भगवान ने पैदा किया है उससे संतोष नहीं हो सकता ?" माथे पर बल डाल कर वे बोलीं।

"क्षमा कीजिये, भगवान ने तो सभो को नंगा पैदा किया है। उससे संतोष हो जाना चाहिये ?"

"यह भी कोई बात है ?" श्रीमती जी ने झल्लाकर उत्तर दिया, "भगवान ने बुद्धि तो दी है कि मनुष्य कपड़ा बनाकर पहन ले !"

श्रीमती जी के शास्त्री जी विनोदी स्वभाव हैं, बोले—"शृंगार और भवें बनाने की बुद्धि भो तो भगवान ने ही दी है भाई !'

"यह बुद्धि का दुष्प्रयोग है।" श्रीमती जी ने अपनी गांधी भण्डार की बनी भद्दी चप्पल जोर से पटक कर विरोध प्रकट किया।

"भवें बनाने में यदि भगवान से कोई भूल चूक रह गई हो तो उसे सुधार लेने में आपको क्या आपत्ति है ?" उनसे प्रश्न किया।

"हाय राम, तो पलकें भी क्यों नहीं मूड़ लेतीं ?"

'शास्त्री जी के मूँछ मुंडाने पर भी आप को एतराज है ?" उनके पति की ओर संकेत कर जिज्ञासा की।

"हमारी मूँछों को तो" शास्त्री जी आतंक से श्रीमती जी की ओर संकेत कर बोले, "सरकार ने गैरकानूनी करार दे दिया है।"

"छिः, बड़ी-बडी मूँछों से तो आदमी फूहड़ लगता है।" श्रीमती जी ने पति पर लगाये अपने अनुशासन की सफ़ाई दी।

"यह तो आप का ख़याल है।" एक समय मूछों की कुंडली पर नींबू टिक जाना ही सौन्दर्य और बड़प्पन की शान थी।" श्रीमती जी से तर्क किया, "शास्त्री जी को सुघड़ बनाने के लिए आप इनकी मूँछें मुड़वा सकती हैं तो अपनी भवों को फूहड़ समझने वाली महिलायें उन्हें क्यों नहीं सुधार सकतीं ?"

"पति अपनी पत्नी के लिये और पत्नी अपने पति के लिये सुन्दर बने तो एक बात है परंतु यह चुड़ैलें तो दुनिया भर को मोहने का यत्न करती हैं।" श्रीमती जी ने सार्वजनिक रूप से सौन्दर्य की होड़ करने वाली महिलाओं के प्रति अपना रोष प्रकट किया।

"यदि कोई महिला दर्शनीय बनने का यत्न कर पुरुषों को संतोष दें तो इससे आप क्यों नाराज़ होती हैं ? हम देख भर ही तो लेंगे......." शास्त्री जी ने दीनता प्रकट की।

"आग लगे इस संतोष को......." शास्त्राणी जी किसी महिला के राग-रंजित होठों, किसी के यत्न से संवारे केश-विन्यास, किसी की आँखों का कृत्रिम विस्तार दिखाने के जिए कनपटियों की ओर बनाई गई सुरमे की लकीरों की आलोचना कर अपनी ग्लानि प्रकट करती रहीं।

अपने प्रति आकर्षण से सन्तोष मनुष्य को ही क्या जीवों तक को होता है। कृत्रिम अवस्था में रहने वाला मनुष्य ही नहीं, प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले जंगली लोग भी पक्षियों के परों, फूलों या जीवों की चमकदार हड्डियाँ अपने शरीर पर सजा कर आकर्षक बनने का यत्न करते हैं। श्रीमती जी भी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से मुक्त नहीं। अप्सरा बनने का यत्न करने वाली इस भीड़ में वे गांधीभंडार के मोटे खद्दर की साड़ी पहन कर आई थीं और केश

भी बिलकुल सादगी से बांधे थीं। इस सादगी का प्रयोजन दूसरों से भिन्न दिखाई देकर ध्यान खींचना ही था। यह बात कहने से श्रीमती जी के रोष की आशंका थी। ध्यान खींचने या आकर्षक बनने के ढंग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं परन्तु प्रयोजन एक ही रहता है। यह मनुष्य की प्रकृति है कृत्रिमता नहीं।

उचित बनाव-शृंगार के प्रति उपेक्षा दिखाकर फूहड़ रूप से समाज में प्रकट होना, वैरागी के रूप में ध्यान आकर्षित करना है। यह समाज के प्रति उपेक्षा दिखा कर अपना बड़प्पन जमाना है। यह समाज का अपमान भी है। यह ढंग उन्हीं को शोभा देता है जो अपने आपको समाज से ऊंचा, विशिष्ट व्यक्ति समझ बैठते हैं, अपने भोंड़ेपन को समाज के लिये पूजा की वस्तु बना देना चाहते हैं। उपेक्षा दिखाकर आकर्षित करने के प्रयत्न में कुछ बौद्धिक तेज का दम्भ भी जान पड़ता है। कलाकारों की सर्व-साधरण से भिन्न दिखाई देने की प्रवृत्ति का रहस्य यही जान पड़ता है।

प्रसाधन स्त्री-पुरुषों की 'स्वाभाविक' प्रवृत्ति है। इसी से प्रवृति को 'कृत्रिमता' कहा जाता है और इस प्रवृत्ति के प्रति आलोचना भी सुनाई पड़ती है। अनेक महिलायें जो प्रसाधन के कर्त्तव्य को उत्साह से पूरा करती हे, वे भी प्रसाधन की कृत्रिमता की आलोचना करती देखी-सुनी जाती हैं। ऐसी आलोचना की मनोवृत्ति को समझ लेना कठिन नहीं है। सुन्दर बनने के प्रयत्नों की आलोचना या उनका विरोध फ़ूहड़पन या भोंडे दिखाई देने की इच्छा नहीं होती। ऐसी बात तो मनुष्य की प्रकृति के ही विरुद्ध होगी। प्रसाधन की कृत्रिमता की आलोचना का प्रयोजन प्रसाधन की होड़ को असुविधाजनक हो गया देख कर प्रसाधन के प्रयत्नों को सीमित कर सकने की इच्छा ही है।

प्रसाधन द्वारा सुन्दर बनने की होड़ महिलाओं में इस सीमा तक पहुंच गई है कि वे उत्साह के बजाये बोझ और थकावट अनुभव करने लगी हैं। भद्रपुरुष उससे इसलिये ऊबते जान पड़ते हैं कि प्रसाधन और बनाव-सिंगार ऐसी सीमा पर पहुँच गये हैं कि प्रसाधन ने नारी के रूप को सुन्दर बनाने की अपेक्षा विकृत बना देना और छिपाना शुरू कर दिया है। प्रसाधन के कारण अब भद्रसमाज में नारी की त्वचा का रंग, आंखें, होंठ, शरीर की वास्तविक आकृति और गंध कहीं नही मिलती। पाउडर के रूप में चावल का आटा या चाक, लिपस्टिक के रूप में मोम मिली सुर्खी, काजल और सुरमे की पेंसिलें, कुचों के नोकीले खोल और रासायनिक सुगन्धियां पुरुषों को धोखा देने के

लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। नारी के सौन्दर्य की कल्पना का चेहरा लगाये महिलायें ही दिखाई देती हैं। यह सौन्दर्य नहीं, सौन्दर्य का धोखा-मात्र है। इसीलिये तो इस वर्ग का रसिया आज अपनी स्त्री को अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक रोब के प्रदर्शन का साधन बना कर स्वयं ग्राम्याओं को लालायित आँखों से देख होंट काटने लगता है।

पूँजी के इस राज में सौंदर्य को भी पूंजी या सम्पत्ति का प्रतीक बना लिया गया है। 'बड़े लोगों' (सम्पत्तिशाली) से सुन्दर होने की भी आशा की जाती है। सुन्दर स्त्री बड़े लोगों का भाग मान ली गई है। महिलायें भी अपने सौंदर्य को प्रसाधन और आभूषणों के मूल्य से नापती हैं। आभूषण का सौन्दर्य उसकी कीमत से आंका जाता है। आभूषण सौन्दर्य को बढ़ाये या न बढ़ाये, 'बड़प्पन' या सम्पत्ति का प्रमाण अवश्य मान लिया जाता है। महिला की साज-सज्जा और रूप पति और पति के परिवार की समृद्धि और बड़प्पन का सूचीपत्र मान लिये गये हैं। व्यक्ति या परिवार के भीतर समाये बड़प्पन का माप खर्च कर सकने के सामर्थ्य के प्रदर्शन से ही होता है। सौन्दर्य के माध्यम द्वारा बड़प्पन का सम्मान पाने की इस स्पर्धा में मध्यमवर्ग आज बलिदान हो रहा है। अपने बड़प्पन की रक्षा के साथ आत्मरक्षा की उसकी कराहट आज प्रसाधनों के 'अति' का विरोध कर रही है।

पर्याप्त साधनों की मालिक श्रेणी की महिलाओं के सौन्दर्य प्रदर्शन से होड़ और स्पर्धा में मध्यमवर्ग और निम्न मध्यमवर्ग के परिवारों को कैसे अपना पेट काटना पड़ता है, यह नैनीताल की झील के किनारे सौन्दर्य या प्रसाधन प्रतियोगिता के मैदान में खूब देखा जा सकता है। साधारणतः मध्यम और निम्न मध्यवर्ग के लोग आदर पाने की अतृप्त इच्छा को साधनों के अभाव में दबाये रहते हैं। अपने नगर या कस्बे में चारों ओर जानने-पहचानने वाले लोगों के बीच बड़प्पन दिखाने का साहस वे नहीं कर पाते। घर से दूर, नैनीताल में आकर उन्हें साहस इसलिये होता है कि उनकी आर्थिक वास्तविकता जानने वाले सामने नहीं रहते। वे भी दो चार हफ्ते 'बड़प्पन' में गर्दन ऊंची कर लेना चाहते हैं।

ऐसे 'बड़े लोगों' में से कुछ-एक को मैं पहचानता हूँ। मिस्टर 'क' दहेज में पाया यत्न से रखा बढ़िया सूट पहने, रेशमी जार्जेट की कामदार साड़ी, कोट और सैंडल पहने, प्रसाधन से पुती, बड़ा बटुआ और छोटी छतरी लिये

मिसेज़ 'क' के साथ मैदान की प्रतियोगिता में आते हैं। उनकी आन-बान देख कर उन्हें छोटी-मोटी रियासत के राजा-रानी, अहमदाबाद, बम्बई, कानपुर की किसी मिल का मालिक या बड़ा आई० सी० एस० अफसर अनुमान कर लिया जा सकता है। छोटे-मोटे दुकानदार, रिक्शा और डांडियों के कुली- हुजूर ! हुजूर ! पुकारते उनके सामने दौड़ते हैं। वे भी साधनों और सम्पत्ति के मालिक समझे जाने के गर्व में कलगीदार मुर्गे की तरह गर्दन अकडा कर चलने में 'हुजूर-मालिक' होने का संतोष कुछ क्षण के लिये पा लेते हैं। आस-पास चलते लोगों की ओर आधी पलक झुकाकर ऐसे देखते हैं, मानो धूल में रेंगते किसी बहुत छोटे कृमि पर नजर पड़ गई हो परन्तु इनकी वास्तविक स्थिति से मैं परिचित हूँ, इनकी आदर पाने की इच्छा के प्रति मुझे सहानुभूति भी है।

मुझे मालूम है, इन्हों ने बड़े यत्न से नैनीताल में एक मास बिता पाने का बजट जोड़ा है। 'तल्लीताल' बाजार के पिछवाड़े की एक कोठरी इन्हों ने बहुत भाव-तोल कर किराये पर ली है। इस कोठरी को 'कोठरी' न कह कर बड़ा 'बक्सा' ही कहना उपयुक्त होगा। फर्श, दीवारें, छत सब काठ के फट्टों के हैं जहाँ सर्दियों भर खटमलों ने इनके आने की प्रतीक्षा में उपवास-तपस्या की है। मिसेज़ एक छोटी अंगीठी में किफ़ायत से कोयला सुलगा कर मुट्ठियों से आटा नाप कर पति-पत्नी और बालक के लिये चपातियां सेंक लेती हैं। घी की सुगन्धमात्र लिये किसी एक सस्ती तरकारी या दाल से चपातियों को निगल लिया जाता है। पौष्टिक पदार्थों का खाना-पीना अपने मन के सन्तोष या स्वार्थ की बात है। कपड़ा और आभूषण अधिक जरूरी हैं, क्योंकि वे सामाजिक सम्मान के प्रतीक हैं। इनका सिद्धान्त है—घर में चाहे आदमी नंगा-भूखा निभा ले, दुनिया की आंखों के आगे मान रखना ज़रूरी है। नैनीताल में इस श्रेणी के लोगों की काफ़ी बड़ी संख्या आपको मिलेगी। नैनीताल में आने वाले सरकारी दफ्तरों के सभी बाबू इसी श्रेणी के भद्रपुरुष हैं। सरकार उनसे ऐसी ही आशा भी रखती है। दफ्तर के बड़े साहब या मंत्री महोदय के लिये सरकार अठारह कमरे का बंगला तैयार रखती है। इन बाबू साहब के पूरे परिवार के लिये एक कमरा।

नैनीताल में आये सैलानी लोगों की गाहकी से लाभ उठाने की आशा करने वाले दुकानदार और घोड़े-रिक्शा के कुली लोग ऐसे बाबुओं और सेठों

को पहचान लेने पर इनकी चर्चा वितृष्णा-पूर्ण उपेक्षा से करते हैं। दुकानदारों को शिकायत है कि ऐसे 'शौकीन' पहाड़ आते हैं तो जरूरत का दाल, चावल और मिर्च-मसाला भी साथ बाँध लाते हैं कि नैनीताल में दो पैसे अधिक मोल न देना पड़ जायें, नैनीताल इन से क्या कमा लेगा ? यह हमा-तुमा लोग इस हकारत के अधिकारी इसीलिये हैं कि प्रदर्शन से सम्मान पाने की दुर्दमनीय इच्छा के बावजूद दो पैसे भी इनके लिये बड़ी चीज हैं।

लावण्य और कोमलता, बड़प्पन और समृद्धि के अभेद्य अंग हैं। किसी भी समाज में लावण्य और कोमलता से रूप के निखार का अवसर उसी श्रेणी को होगा जो मेहनत की कड़ाई से कड़ी और कुरूप न हो जाये। लावण्य और सौन्दर्य के प्रधान पारखी कवि-गुरु कालिदास ने घड़ा उठाये प्रणय संकेत करती युवति को फटकार ही दिया था--'घटाँकितकटि प्रमदाम न भजामि' अर्थात् जिस स्त्री की कमर घड़े की रगड़ से कड़ी पड़ गई हो, उस से मैं बात नहीं करता। वही आदर्श आज समाज की भौतिक समृद्धि के बल कुछ और ऊंचा हो गया है। सौन्दर्य के जितने भी उपकरण हैं. उन सभी की ध्वनि या संकेत शारीरिक श्रम से मुक्त होने योग्य समृद्धि ही है। गोरे होने के लिये आवश्यक है कि त्वचा धूप में न जले। हाथ कोमल होने के लिये आवश्यक है कि फावड़ा या हथौड़ा न पकड़ना पड़। चौका-बर्तन करने से नाखून घिस कर हाथों में काली रेखायें न पड़ जायें। सम्मानित वर्ग की पोशाक ही सदा ऐसी होती है कि उसे पहनने वाले से शारीरिक श्रम कर सकने की आशा नहीं की जा सकती। कामिनियों की उंगलियो के पोरों से आध-आध इंच बढ़े, राग-रंजित नाखून इस बात का प्रमाण है कि उन्हें कोई काम हाथ से छूना नहीं पड़ता। यही उनके सम्मान का प्रतीक है। परिश्रम किये बिना निर्वाह न हो सके और परिश्रम को छिपाना भी पड़े, यह कितनी मानसिक यंत्रणा और आत्म-ग्लानि का कारण होगा ? इस मनोवृति की जड़ किस भूमि में है ? दूसरे के श्रम से जीने का अधिकार ही सम्मान पाने का अधिकार भी समझा जाता रहा है। आदर श्रम का नहीं, दूसरों के श्रम का फल समेट सकने के अधिकार का ही है।

'बड़े लोगों' की चाल चल, मोर बनकर सम्मान पाने की महत्वाकांक्षा में केवल निम्न-मध्यम-श्रेणी का 'कौवा' बाबू ही मार नहीं खाता, मध्यम-श्रणी के साहब या आई० सी० एस० के मुर्गे भी अपने पर नुचवा लेते हैं।

नैनीताल में जमा होने वाले बड़े लोगों के समाज के रहस्य जानने वालों से यह छिपा नहीं की नैनीताल, मंसूरी शिमला और दिल्ली में बड़े लोगों का पर्दा रखने वाली ऐसी अनेक दुकानें हैं जो किसी राजा, नवाब या गवर्मेंट हाउस में निमंत्रण पा जाने पर इन लोगों की, विशेष कर इस श्रेणी की महिलाओं की लाज बचाती हैं। ऐसे सम्मानित भोजों, पार्टियों और डाँसों (नाचों) में साधारण पोशाक में जाते नहीं बनता। इन सब भोजों और पार्टियों में प्राय एक ही दायरे के लोगों का बार-बार सामना होता है। एक ही पोशाक या आभूषणों को बार-बार पहन कर ओछापन नहीं दिखाया जा सकता। यह बड़ी-बड़ी दुकानें ऐसे अवसरों पर सीमित-साधन सम्मानित मध्यमश्रेणी के मान की रक्षा के लिये बहूमूल्य और बढ़िया सेट, रंग का मेल खाते साड़ी, ब्लाउज़, सेंडल, बटुआ, छतरी और आवश्यक आभूपण भी किराये पर दे देती हैं। तीन-चार हज़ार रुपये की सजधज का सामान एक रात के लिए, किराये पर सौ-डेढ़ सौ रुपये में मिल सकता है। जो परिवार सजधज पर तीन-चार हजार खर्च नहीं कर सकता, उसके लिये एक रात का किराया सो-डेढ़ सौ कम चोट नहीं है परन्तु सम्मान और आदर अर्थात् प्रभु श्रेणी की समता क्या सस्ती चीज है ? सम्पत्ति का प्रदर्शन न कर सकने पर सम्मान कैसा ?

सम्मान और आदर की समता पाने के लिये इतना बलिदान करके भी उच्च-मध्यम श्रेणी या आई० सी० एस० लोग भी पूंजी या उद्योग-धन्धों के छत्रपतियों की बराबरी नहीं कर पाते। ऊँची तनख्वाह पाने वाले की आमदनी की भी एक सीमा है। ऐसे 'बड़े आदमी' का खर्च उसकी आमदनी को तुरन्त ही छूने लगता है परन्तु पूंजीपति की आमदनी या सम्पत्ति के रूप में शक्ति बढ़ने की कोई सीमा नहीं है। उसका मुनाफ़ा प्रतिक्षण उसकी पूंजी की शक्ति को बढ़ाता जाता है और मुनाफ़ा कमाने की उसकी शक्ति बढ़ती चली जाती है। नैनीताल में एक मिल मालिक की लेडी श्रृङ्गार के रोब का ऐसा रिकार्ड बना गई हैं कि मामूली अढ़ाई-तीन हजार तनख्वाह पाने वाले आई० सी० एस० तो क्या गवर्नर भी कभी उनकी बराबरी नहीं कर सके। इन लेडी साहिबा के साड़ी, ब्लाउज़, बटुवे, छतरी और सैंडल के सेट के साथ उनकी डांडी और डांडी उठानेवाले कुलियों की वर्दी का रंग भी बदल जाता था। ऐसी होड़ से सीमित साधन 'बड़े आदमी' कैसे न त्राहि-त्राहि कर उठें ? प्रसाधन से मिलने वाले उत्साह के मार्ग में आज सम्पत्ति के प्रदर्शन की होड़ ने अन्तरविरोध खड़ा

कर दिया है। सौन्दर्य का प्रदर्शन आर्थिक शक्ति का प्रदर्शन बन कर अप्राकृतिक और अति-कृत्रिम बन गया है।

× × ×

समृद्ध श्रेणी के क्रीड़ा-स्थल इस नैनीताल में, हमारे समाज के जीवन की आवश्यकता और व्यवहार में एक और उत्कट अन्तरविरोध दिखाई देता है। 'तल्लीताल' में मोटर के अड्डे से 'मल्लीताल' तक दोहरी सड़क बनी हुई है। दोहरी सड़क का प्रयोजन आमने-सामने से आती-जाती भीड़ को आपस में टकराने से बचाना नहीं है। ऊपर की सड़क पक्की, तारकोल की है, नीचे कीसड़क कच्ची कंकरीली है। ऊपर की सड़क पैदल चलते भद्रपुरुषों और महिलाओं के लिये है, नीचे की सड़क पशुओं, घोड़े-खच्चरों और बोझ उठाये कुलियों के लिये है। सुना जाता है, आरम्भ में अंग्रेजी सरकार ने दो सड़कें इसलिये बनवाई थीं कि ऊपर की सड़क पर 'गोरे' लोग चलें और नीचे 'काले' आदमी। तब झील में नौका-विहार का अधिकार और अवसर भी केवल शासक श्रेणी के गोरों को ही था। अंग्रेज सरकार ने शासितों की राष्ट्रीय अपमान की भावना से आतंकित होकर या मानवता के इस अपमान से शर्मा कर इस नियम को बहुत वर्ष पूर्व ही शिथिल कर दिया था और पूंजीवादी समता के अनुसार सम्मानित-सम्पन्न दिखाई देने वाले सभी लोगों को ऊपर की सड़क के व्यवहार का अधिकार दे दिया था। परन्तु शासक शक्ति के सम्मान रूप १९४७ तक भी मैं इस सड़क पर काले आदमियों को गोरों के लिये राह छोड़ते देखता रहा हूँ। उस समय किसी अंग्रेज को शारीरिक श्रम करते या दयनीय वेश-भूषा में देखने का अवसर शायद ही कभी मिला हो।

अंग्रेज़ शासक की वह विशिष्ट स्थिति भारतीय समाज की शासक 'मालिक' श्रेणी ने अनायास ही सम्भाल ली है। आज समृद्धि के अधिकार से नैनीताल में विहार का अवसर पाने वाले लोग इस सड़क के अधिकारी हैं। समृद्ध श्रेणी की आवश्यकता पूर्ति के लिये सिर पर कोयला, लकड़ी, घास या दूध ढोने वाले लोगों को म्युनिसिपल कमेटी का प्रबन्ध नीचे की सड़क का व्यवहार करने के लिये बाधित कर देता है। नैनीताल की सर्दी में कोयले-दहकती अंगीठी के सामने बैठे दूध और चाय पीना आदर सूचक है परन्तु कोयला और दूध ढोना निरादर सूचक। यदि कुछ लोगों को पेट की आग की ज्वाला से इस काम के

लिये मजबूर न कर दिया जा सके तो समाज कोयले और चाय-दूध के बिना ही रहे। उत्पादक श्रम के निरादर के ऐसे ही अनुभव के आधार पर पूंजीवादी समाज की मनोवृत्ति में पनपे लोगों को आशंका होने लगती है कि समाजवादी समाज में, विश्राम और भोजन का समान अवसर हो जाने पर कठिन और अपमानजनक श्रम कोई क्यों करेगा ? इनके लिये यह कल्पना करना कठिन है कि उस समाज में श्रम अपमानजनक न समझा जायगा और अप्रिय कठिन श्रम को यथासम्भव मशीनें ही करेंगी।

हमारे समाज की व्यवहारिक मान्यता के अनुसार श्रम द्वारा निर्वाह करना अपमानजनक है। श्रम के सम्मान की थोथी बातें सुनाई तो ज़रूर पड़ती हैं परन्तु वे व्यवहार में नहीं आतीं। श्रम मजबूरी में ही किया जाता है, शौक़ और उत्साह से नहीं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों को श्रम करने के लिये बाधित कर सकना या उन्हें किराये पर ले सकना आज आर्थिक शक्ति का प्रतीक है। शक्ति से ही सम्मान होता है। आज हमारे समाज में पैदावार की पूरी व्यवस्था श्रम को किराये पर लेकर चलायी जा रही है। समाज के निन्यानवे प्रतिशत लोग श्रम तो कर सकते हैं परन्तु पैदावार के उपकरणों और श्रम के साधनों से वंचित हैं।

समाज दो भागों में बंटा है। एक भाग संख्या में बहुत कम होने पर भी सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति का स्वामी है। यह भाग श्रम को खरीदता या किराये पर लेता है। दूसरा भाग संख्या में बहुत बड़ा होने पर भी आर्थिक शक्ति से शून्य है और अपने श्रम को किराये पर देता है। विचारकों का कहना है ऐसी कृत्रिम अवस्था मशीनों के उपयोग से, पैदावार का केन्द्रीयकरण कुछ एक आदमियों के हाथ में हो जाने का ही परिणाम है। ऐसे आदमी दुख से स्वीकार करते हैं कि मशीन ने मनुष्य की शक्ति को तो असीम रूप से बढ़ाया है परन्तु समाज को शोषक और शोषित, मालिक और मज़दूर दो श्रेणियों में बांट कर अनन्त कलह और हिंसा की भूलभुलैयां में फंसा दिया है। प्रकृतिवादी इसीलिये मशीन की कृत्रिमता का विरोध करना आवश्यक समझते हैं। समाज में शान्ति और सन्तोष का उपाय उनकी दृष्टि में फिर हाथ से परिमित पैदावार करके ही संतुष्ट हो जाना है। उनके विचार में मशीनों के युग से पूर्व मालिकों द्वारा दासों की सेनाओं का शोषण मालिक के पितृ प्रेम का ही प्रमाण था।

इस बात में संदेह का अवसर नहीं है कि मालिक और मज़दूर का झगड़ा

आज वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय जीवन में भी समा गया है। प्राचीन नैतिक धारणा के अनुसार मज़दूर या सेवक स्वामी की सन्तान के समान समझा जाता था। आज के समाज की पिता श्रेणी या पैदावार के साधनों की मालिक श्रेणी अपनी मजदूर सन्तान के लिये किस प्रकार अपना बलिदान कर रहे हैं, यह छिपी बात नहीं है। यह भी छिपा नहीं कि मज़दूर या सेवक सन्तान स्वामी या पिता श्रेणी को अधिकार की गद्दी से गिराकर स्वयं उस पर बैठने की कल्पना और प्रयत्न कर रही है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में आज यही झगड़ा प्रमुख है। अमरीका स्वामी या पिता श्रेणी का पहलवान है और रूस-चीन मजदूर श्रेणी के। हाँ, एक हद तक यह कहना ठीक है कि मशीनों द्वारा पैदावार करने की व्यवस्था ने समाज में हिंसा को 'प्रकट' कर दिया है। यों तो साधनहीनों का शोषण और हिंसा, दासों और कृषक दासों द्वारा पैदावार कराने के रूप में, मशीनों का व्यवहार विस्तृत रूप में होने से पहले भी होती आ रही थी परन्तु शोषित इस हिंसा के विरुद्ध पुकार उठा सकने की अवस्था में नहीं थे। वे भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों से चिपके और पालतू पशुओं के समान सामन्त के परिवार का अंग बने हुए थे। शोषितों का व्यक्तिगत अस्तित्व इतना निर्बल था कि वे ज़बान न हिला सकते थे। भूमि का वह छोटा सा टुकड़ा छिन जाने का भय उन्हें आमरण सहनशील बनाये रखता था।

मशीनों ने सैकड़ों हजारों शोषित मज़दूरों को कारखानों में एक साथ इकट्ठा कर उन्हें मज़दूर-वर्ग के संयुक्त व्यक्तित्व में बाँध कर उनकी शक्ति को बढ़ा दिया है। उन्हें भूमि के टुकड़े या औज़ारों के स्वामित्व से भी हीन कर, कुछ भी छिन जाने के भय से मुक्त कर दिया है। उन्हें 'मरता क्या न करता' कि अवस्था में पहुँचा कर अपने शोषण या हिंसा के विरुद्ध पुकार उठाने के लिये विवश कर दिया है। मज़दूर श्रेणी आज चुपचाप मालिक श्रेणी की हिंसा का शिकार बनती रहने के लिये तैयार नहीं। मज़दूर श्रेणी का यह विरोध ही आज मालिक विचारकों को हिंसाकी भावना जान पड़ती है। उन्हें जान पड़ता है, मशीन ने ही हिंसा की स्थिति पैदा कर दी है। मशीन से पहले सेवक ने कभी हिंसा की शिकायत नहीं की थी इसलिये हिंसा दूर करने का उपाय वे मशीन की कृत्रिमता को दूर कर देना बताते हैं।

नैनीताल में मालिक-मज़दूर के सम्बन्ध की समस्या अभी आरम्भिक रूप में दिखाई देती है। अभी शक्ति के अधिकार के लिये इन दो श्रेणियों में संघर्ष

स्पष्ट नहीं है परन्तु आप यह देख सकते हैं कि मजदूर के जीवन की भावना और समस्याएँ क्या हैं, औद्योगिक रूप से विकसित नगरों और समाजों में वे किस अवस्था से गुजर चुकी होंगी या इन समस्याओं का भविष्य क्या होगा। खैर, सैद्धान्तिक बहस को छोड़िये, देखिये आँखों के सामने क्या है ?

काठगोदाम स्टेशन से मोटर बस पर नैनीताल तक की दौड़ अनेक यात्रियों को परेशान कर देती है। पहाड़ की पसलियों पर निरन्तर ऊपर ही ऊपर रेंगती आती मोटर के दायें-बायें रमणीक दृश्य न हों, ऐसी बात नहीं परन्तु सड़क के मुड़ी हुई कोहनी जैसे मोड़ों में जब मोटर बार-बार झटके देकर घूमती है तो अनेक यात्रियों की अवस्था वैसी ही हो जाती है जैसे खूब तेज़ चलते हिंडोले पर देर तक झूलने से हो सकती है। मोटर आकर रुकती है बिलकुल झील के किनारे। ठण्डी-ठण्डी हवा के झोंकों की थपकियों से ढल-मल करती नीली झील आँखों के सामने सहसा फैल जाती है। आँखें चारों ओर उठे गगन-चुम्बी पहाड़ों पर छिटके रंग-बिरंगे बंगलों को देखें या सामने लहलहाते नीले विस्तार को ? यात्री इन दोनों में से किसी भी दृश्य पर आँखें नहीं टिका पाते।

"हुजूर कुली ! हुजूर कुली ! हुजूर कुली ! हम सामान उठायेगा ! हुजूर ये हमारा टिकट लो ! हुजूर रिक्शा ! हुजूर हमारा रिक्शा लेगा ! हम उठायेगा ! हट शाला....!" आप के कान परेशान हो जायेंगे। कुलियों के नम्बर के पीतल के अनेक टुकड़े आप के हाथों में ठूंस दिये जाने की कोशिश की जायेगी। कम्बलों के चीथड़ों और पसीने की असह्य दुर्गंध से आप बिल-बिला जांयगे। हाथ में छोटी बैटन लिये सिपाही को आपकी रक्षा के लिये आना पड़ेगा। यदि वह न आये तो सम्भव है आप आपे में न रह कर लात और हाथ चलाने लगें। सम्भव ही नहीं, मैंने अनेक भद्र पुरुषों को ऐसे विवश हो जाते देखा है।

आप की इस कठिनाई और असुविधा का कारण यह है कि यह कुली आपका सामान उठा सकने के अवसर के लिये आपस में झगड़ते हैं। कभी-कभी कुलियों में मारपीट भी हो जाती है और फिर पुलिस कुलियों में मारपीट को रोकने के लिये इन पर मारपीट करती है। मोटर के अड्डे पर सामान उठवाने वाले साहबों की संख्या कम और सामान उठाना चाहने वालों की संख्या अधिक होती है। यह सामान उठा सकने के अवसर के लिये झगड़ा

है। कुछ ऐसा ही दृश्य जैसे कौओं के झुंड में रोटी का टुकड़ा फेंक दिया जाय। आपका बोझा ढो सकने का अवसर पाकर यह कुली सुखी हो जाते हैं, आनन्द पाते हैं। क्या बोझा उठाना आनन्द की बात है ? अधिकांश लोग इसे आनन्द न मानेंगे। यदि कुलियों को बोझा उठाने से पेट भरने की आशा न हो तो वे भी इसे आनन्द न समझेंगे। आनन्द है, पेट भर कर जीवित रह सकना। आनन्द और सौंदर्य का बहुत निकट सम्बन्ध है। कुछ लोग हैं जो आनन्द और सौंदर्य को शाश्वत भी मानते हैं।

यह कुली ही रमणीक नैनीताल की जनता का प्रधान भाग हैं। नैनीताल के सुख और सौंदर्य का साधन हैं। इन कुलियों का कुछ परिचय अप्रासंगिक न होगा।

अधिकांश में यह कुली नैनीताल के वासी नहीं। यह लोग मज़दूरी के लिये अलमोड़ा, गढ़वाल के पहाड़ी ज़िलों के ऐसे सुदूर व भीतरी भागों शोर, असकोट या नैपाल की सीमा से आते हैं जहां मशीन की कृत्रिमता का प्रभाव सड़क, मोटर कल-कारखाने आदि के रूप में नहीं पहुँच पाया है। इन्हें 'दाई' या 'डोटियाल' पुकारा जाता है। यह लोग नागरिक बोल-चाल समझ नहीं पाते न इनकी बोली समझना नागरिकों के लिये आसान है। इनकी पोशाक प्रायः कम्बल का एक चीथड़ा-मात्र होती है। कुछ दाई कम्बल के टुकड़े का फटा पाजामा भी पहने रहते हैं। यह लोग नैनीताल की सैर के लिये आने वाले भद्र-समाज की सवारी और बोझ ढोने का काम करते हैं।

नैनीताल में इमारती सामान मोटर लारियों पर नहीं ढोया जा सकता। खच्चर या गधे इस काम के लिये व्यवहार में लाये जाते हैं। इन लोगों को गधों और खच्चरों से सस्ती मज़दूरी पर ही काम मिल सकता है। पेट पालने के लिये इन्हें गधों और खच्चरों से ही होड़ करनी पड़ती है। कृत्रिम उपायों का व्यवहार कर सकने वाले 'आदमी' से इनकी कोई तुलना नहीं क्योंकि यह बहुत प्राकृतिक अवस्था में हैं। कृत्रिम साधनों के स्वामी इन्हें दो पाँव के पशु ही समझते हैं। इनकी चतुरता के बारे में यह कहावत प्रसिद्ध है—यदि डोटियाल या दाई को मन-डेढ़ मन बोझ पीठ पर लाद कर कड़ी चढ़ाई पर बीस मील जाना हो तो वह यात्रा के आरम्भ में दस-दस सेर के दो पत्थर भी बोझ के साथ रख लेगा। आठ-दस मील चल चुकने पर जब थकावट मालूम होगी, बोझ में से एक पत्थर फेंक देगा और बोझ हल्का हो जाने के विश्वास में सुख

से फिर चल देगा। जब शरीर बहुत चूर-चूर होता अनुभव होगा तो दूसरा पत्थर भी फेंक देगा और हल्का अनुभव करने लगेगा।

जीवन के संघर्ष में यह लोग कृत्रिम उपायों के स्वामी लोगों के सामने किस रूप में ठहर सकते हैं, यदि 'यँत्रों' की कृत्रिमता पर निर्भर करने वाला समाज अपनी कृत्रिमता को छोड़ दे तो हम शान्ति और संतोष की किस अवस्था में पहुँचेंगे, दाइयों के उदाहरण से अनुमान कर लेना कठिन नहीं है। इन दाइयों और डोटियालों के देश में सभी लोग ऐसी पशु अवस्था में ही हों सो बात नहीं। यहाँ नैनीताल में ही दाइयों के देश के, राजा कहलाने वाले एक बड़े जागीरदार के लड़के को इन्हीं डोटियालों के कंधों पर डांडी में सवार हो क्लब जाते देख सकते है। क्लब में वे 'स्काच' ह्विस्की के सरूर में अति आधुनिक रमणियों के साथ प्रणय-ठिठोली भी करते हैं। उस प्राकृतिक देश में हज़ारों ही कृषक इनके विलास का खर्च जुटा रहे हैं। यह सामन्तकालीन समाज के न्याय, राजा के पिता और प्रजा के पुत्र समझे जाने के आदर्श का नमूना है।

दाइयों और डोटियालों की प्राकृतिक अवस्था का थोड़ा और परिचय सुनिये—अपने प्राकृतिक देश में निर्वाह के लिये पर्याप्त अन्न पैदा करने योग्य कृषि की भूमि इनके पास नहीं है। पैदावार के दूसरे कृत्रिम साधन, मशीनें भी नहीं इसलिये घर के मर्द भूमि को जोत-बो कर स्त्रियों के हवाले कर कमाई के लिये नैनीताल, भुवाली, रानीखेत और अलमोड़ा आकर बोझ उठाने वाले पशुओं का काम करते हैं। मनुष्य जब नितान्त प्राकृतिक होता है, अपने सिर पर बोझ ढोता है। कृत्रिम उपायों का थोड़ा बहुत परिचय पा लेने पर गधे-खच्चर से काम लेने लगता है। कृत्रिम उपायों या प्राकृतिक शक्तियों को वश में कर लेने पर मोटर और हवाई जहाज से बोझ ढोने और सवारी का काम लेता है। नैनीताल में यह दाई और डोटियाल लोग, आठ-आठ दस-दस दाई मिलकर ऐसी कोठरी किराये पर ले लेते हैं जिसमें आप अपनी गाय या घोड़ा बांध सकें। अंग्रेज शायद उस कोठड़ी की मरम्मत और सफाई कराये बिना अपने पशु भी न रखें। जैसे गाड़ी में शहतीरें भरी जाती हैं, वैसे ही यह लोग कोठरी के फर्श पर एक दूसरे से सटकर बिछे हुये सो जाते हैं। ऐसी कोठरियों में रोशनदानों का सवाल क्या? दरवाजा यह लोग जाड़े के कारण बन्द कर लेते हैं। कम्बल या चादर खरीदना इनके बस की बात नहीं होती। सुना है, जब जाड़ा नंगे फर्श पर उघाड़े सोये डोटियाल की आंख नहीं लगने देता तो

डोटियाल कोठड़ी का दरवाजा खोल कर बाहर जाकर पाला जमी जमीन या बरफ में कुछ देर खूब लोटता है। शरीर सुन्न हो जाने पर भीतर चला आता है। कोठड़ी में अपेक्षाकृत गरमाहट अनुभव कर वह सुख से सो सकता है।

हां, कभी-कभी एक कोठड़ी में रहने वाले डोटियाल सहयोग से साझी सम्पति के रूप में एक कम्बल खरीद लेते हैं। सब लोगों के लेट जाने पर कम्बल ऊपर से ओढ़ लिया जाता है। ऐसी अवस्था में किसी व्यक्ति के करवट लेने का कोई सवाल नहीं रहता। जब करवट लिये बिना न रहा जा सके तो सब सहयोगियों को सावधान कर दिया जाता है और सब लोग एक साथ पुकार कर दायें या बायें कवायद करती पलटन की तरह, करवट लेकर कम्बल को फिर साध लेते हैं।

दाइयों और डोटियालों में भी शोषक और शोषित का भेद है। अनेक स्थानों पर जहाँ लम्बी यात्रा का अवसर होता है और मुसाफिरों का सामान दाइयों की इमानदारी पर छोड़ना पड़ता है या कुली मिलने में कठिनाई हो सकती है, दाइयों के 'मेट' नियत रहते हैं। यात्रियों के लिये कुली देना इन मेटों की जिम्मेवारी होती है। इस जिम्मेवारी का अर्थ यह भी होता है कि कोई भी कुली 'मेट' से स्वतंत्र होकर बोझा उठाने की मजदूरी नहीं कर सकता। 'मेट' कुली की आमदनी में से 'कानूनन' एक आना प्रति-रुपये का हकदार समझा जाता है। मजदूरी का भाव-तोल मेट करता है। दाई प्रायः सरकार से निश्चित मजदूरी पाता है। मेट यात्री का मिजाज भाँप कर या कुलियों की कमी बताकर दूनी मजदूरी भी ऐंठ सकता है। निश्चित मजदूरी से अधिक पाये दाम और निश्चित मजदूरी का कमीशन मेट का ही भाग या मुनाफा होता है।

कुलियों की कमाई मेट के पास जमा रहती है। आवश्यकता होने पर मेट एक कुली की कमाई दूसरे कुली को उधार देकर स्वयं सूद ले लेता है। अपना अनुशासन कायम रखने के लिये वह मारपीट भी कर सकता है। साधारणतः मेट की दैनिक आमदनी दाई से दस-पन्द्रह गुना अधिक हो जाती है। क्यों? इसलिये कि दाई को पेट पालने के लिये मजदूरी का अवसर देना मेट के हाथ की बात है। मेट का पेट पालने के लिये अपने श्रम का भाग देने के लिये कुली का विवश होना, इस व्यवस्था का अंग है। मेट-मजदूर के सम्बन्ध को छोटे पैमाने पर मिल-मालिक मजदूर या जमींदार-आसामी का सम्बन्ध समझा जा सकता है।

दाइयों और डोटियालों की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का भी उदाहरण लीजिये—कुछ दिन पहले एक भद्र पुरुष को नैनीताल में साइकिल रिक्शा का रोज़गार चला देने की सूझी। नैनीताल, मसूरी में छोटी और बड़ी दो तरह की रिक्शायें चलती हैं। छोटी रिक्शा में प्राय: एक और बड़ी रिक्शा में दो सवारियाँ बैठती हैं। छोटी रिक्शा को एक कुली आगे से खींचता है और दूसरा पीछे से ढकेलता है। बड़ी रिक्शा के आगे-पीछे दो-दो कुली रहते हैं। जब दाइयों और डोटियालों ने साइकिल-रिक्शा जैसी 'विचित्र-सवारी' देखी तो आतंक से भौचक्के रह गये। चार आदमियों की जगह एक ही आदमी दो आदमियों को सवारी पर लिये स्वयं भी सवार होकर साधारण रिक्शा की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से भागने लगा। दो सवारी की रिक्शा खींचने वाले चार कुली मल्लीताल तक के बारह आने लेकर तीन-तीन आने आपस में बाँट लेते हैं। साइकिल-रिक्शा चलाने वाला इतनी दौड़ के केवल आठ आने लेकर गाहकों को आकर्षित कर रहा था।

गाहकों को बारह आने की जगह आठ ही आने देना अधिक युक्ति-संगत जान पड़ा। साइकिल-रिक्शा वाले की आमदनी साधारण कुली की अपेक्षा आठ-दस गुनी होने लगी। कुछ लोगों को साइकिल-रिक्शा के रूप में मशीन का उपयोग कुलियों पर अन्याय और घृणित कृत्रिमता ही जान पड़ेगी परन्तु इससे जनता के समय और पैसे की बचत और सवारी ले जाने वाले की भी आमदनी चार-पाँच गुना हो गयी। अस्तु, हम दाइयों के राजनैतिक और आर्थिक आन्दोलन की बात कह रहे थे ......।

दाइयों ने अपने पेट पर चोट का आतंक अनुभव किया। नैनीताल में बड़े आदमियों की सभाओं और आन्दोलनों के उदाहरण वे देख चुके हैं। सत्याग्रह और हड़तालों की बातें भी शायद उन्होंने सुनी होंगी या कुली-मजदूरों के अधिकारों की रक्षा करने वाले 'नेता' उन्हें मिल गये हों। दाइयों ने अपने रोटी कमा सकने के अधिकार के लिये साइकिल-रिक्शा के विरुद्ध आन्दोलन और सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। नैनीताल में साइकिल रिक्शाएं नहीं चल सकीं।

नैनीताल की अधिकांश सड़कों पर बड़ी कड़ी चढ़ाई है। बड़े लोग इन सड़कों पर चढ़ते हैं तो उनके फेफड़े धौंकनी की तरह चलने लगते हैं और तोंदें पिचने लगती हैं इसलिये वे चार-चार कुलियों के कंधों पर लदी डांडियों में या चार-चार कुलियों से जुती हुयी रिक्शाओं में ढोये जाते हैं।

जिन कड़ी चढ़ाइयों पर 'बड़े लोगों' के लिये अपना शरीर लेकर चढ़ना भी दूभर है, चार-चार कुली दो-दो शरीरों को डांडियों और रिक्शाओं सहित ढोते हैं। इन कुलियों के माथे से पसीने की धारें बह-बह कर उनके पांव भीग जाते हैं और सड़क पर कुलियों के भीगे पावों के चिन्ह बनते जाते हैं। कुलियों के फेफड़े मोटर-साइकिल के इंजन की तरह चलने लगते हैं। इन सड़कों पर मोटर-साइकिल लगी रिक्शायें अनायास बड़ी सुविधा से चढ़ सकती हैं। ऐसी साइकिल चलाने वाले को केवल उंगलियाँ भर हिलाने का ही श्रम करना होगा परन्तु प्रश्न तो है इन कुलियों के 'पाशविक-श्रम' करके पेट भरने के अधिकार का और शायद गरीबों में बेकारी न बढ़ने देने का। शायद यह कुलियों का 'जन्मसिद्ध अधिकार' है कि वे अपना पेट भर सकने के लिये बड़े लोगों की सवारी के पशु बन सकें। मशीन की कृत्रिमता का विरोध करने वाले मानवता के प्रति सहृदयता और करुणा से द्रवित होकर कुलियों के इस 'पाशविक-अधिकार' की रक्षा के लिये तैयार हैं। इसे श्रद्धा से 'गांधीवादी' आर्थिक नीति कहा जाता है। इस आर्थिक नीति का लक्ष्य है कि सभी श्रेणियाँ अपनी-अपनी मनुष्य और पशु अवस्था में यथावत रह कर प्रेम और सहयोग से अपना-अपना कर्तव्य पूरा करती रहें।

एक मोटर-साइकिल रिक्शा निश्चय ही तीस-चालीस कुलियों का काम कर सकती है, फिर ये कुली क्या करेंगे ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न समाज के विकास के इतिहास में अनेक बार उठे हैं और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार उनका समाधान भी होता रहा है।

कपड़े की मिलों के विकास की कहानी प्रसिद्ध है। आरम्भ में, इंगलैंड में कुछ कारीगरों ने खच्चरों से रहट का पहिया चलवा कर कई-कई करघों को एक साथ चलवाने की कृत्रिमता की थी। करघों को घुमाने वाले मजदूरों ने इस बात पर असंतोष प्रकट किया था। जब करघे का काम मशीन करने लगी तब भी जुलाहों ने विकट असंतोष प्रकट किया था। जुलाहे का काम मशीन से किया जाने पर कपड़ा बुनने वाले बेकार नहीं हो गये बल्कि समाज को पहले से बहुत अधिक कपड़ा मिलने लगा। यदि कपड़ा बनाने के साधन चर्खे-करघे तक ही सीमित रहते तो निश्चय ही राजा, सामन्त और जगत सेठ अंगूठी में से गुजर सकने वाले शाल ओढ़ते रहते परन्तु सर्व-साधारण को गाढ़े का कुर्ता भी कठिनाई से मिल पाता। आज से तीस-चालीस वर्ष पहले कितने लोग गरम

कपड़ा पहने दिखाई देते थे ? हमारे पूर्वज कितना कपड़ा और जूते पहनते थे, कौन नहीं जानता। जापान ने मशीनों से बने जूते सात-आठ आने में बेच कर कितने आदमियों को जूता पहनना सिखा दिया ? कपड़ों और जूतों की मांग कई गुना बढ़ जाने पर कपड़ा और जूते बनाने वालों में बेकारी बढ़ेगी या उनकी कदर ?

मशीनों के प्रयोगों से बेकारी बढ़ने की बात करते समय एक और प्रश्न सामने रखना उचित है। क्या इन दाइयों और डोटियालों का अस्तित्व पाशविक श्रम करने के लिये ही है; क्या यह लोग समाज के लिये अधिक उपयोगी दूसरा श्रम करके अपना निर्वाह नहीं कर सकते; क्या समाज के सर्व-साधारण की उचित, मानवी आवश्यकतायें पूरी हो रही हैं, क्या इन दाई और डोटियालों को मनुष्यों के रहने लायक मकानों में नहीं रहना चाहिये, क्या इनके लिये उचित और आवश्यक वस्त्र बनाने की आवश्यकता नहीं है; क्या इनके लिये भी सवारी की जरूरत नही हो सकती ? इन दाइयों और डोटियालों का श्रम स्वयं इनकी मानवी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये न लगा कर 'बड़े लोगों' के पशु बनने में ही क्यों लगाया जाय ?

डोटियाल और दाई आकृति और रूप से मनुष्य दिखाई देते हैं परन्तु कर्म से वे 'बड़े लोगों' के उपयोगी पशुओं की श्रेणी में आते हैं। उनकी आकृति, रूप और अनेक अनुभूतियाँ मनुष्यों जैसी हैं तो उन्हें मनुष्य के योग्य ही श्रम भी कर सकना चाहिये। श्रम तो वे करते हैं, उचित से भी अधिक श्रम करते हैं परन्तु परिस्थितियों के कारण मानुषिक श्रम नहीं, पाशविक श्रम करते हैं इसीलिए उन्हें पशुओं जैसी स्थिति में रहना भी पड़ता है। वे मनुष्यों जैसा श्रम नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्यों जैसे कृत्रिम या औद्योगिक साधन उनके पास नहीं हैं। समाज को अधिक उपयोगी और उपजाऊ श्रम की आवश्यकता है। समाज में ऐसे श्रम के साधन भी मौजूद हैं। यदि कम हैं तो उन्हें (अर्थात् पैदा करने वाली मशीनों को) समाज की आवश्यकता और इच्छानुसार बढ़ाया भी जा सकना चाहिए परन्तु समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि पैदावार के साधन मालिक श्रेणी के लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं और इनका प्रयोजन मालिक के लिये मुनाफा कमाना है, सर्व-साधारण की आवश्यकतायें पूरी करना नहीं, दाइयों और डोटियालों को मनुष्य बना देना नहीं।

समाज या सर्व-साधारण के हित के नाम पर किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति छीनकर समाज की सम्पत्ति बना देना न्याय की परम्परागत धारणा या गांधीवाद के अनुसार अन्याय और हिंसा है। एक व्यक्ति की हिंसा करके दूसरे का कल्याण करना सामाजिक शांति का उपाय नहीं समझा जा सकता। सम्पत्ति या पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा हमें समाज में व्यवस्था और न्याय की पवित्र, शाश्वत आधारशिला जान पड़ती है। सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व और अधिकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्राण या प्रयोजन जान पड़ता है। ऐसे शाश्वत न्याय की बात करते समय आप सत्यभक्त हरिश्चन्द्र या महाराज रघु को क्यों भूल जाते हैं ?

महाराजा हरिश्चन्द्र और रघु ने अपनी इच्छा से सम्पूर्ण पृथ्वी का दान कर दिया था। प्राचीन धर्मात्मा दानी राजा जब चाहते थे राज्य का खजाना ऋषियों और याचकों को दे डालते थे। क्या आज भारत के राष्ट्रपति अपना राज्य विनोबा भावे को दे सकते हैं ? हमारे प्राचीन धर्मात्मा राजा या नादिर-शाह अपने राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति समझते थे। अकबर और जहाँगीर भी जब चाहते थे अपने राज्य का कोई प्रांत या सूबा जिस किसी को दे डालते थे। आज राज्य राजा की सम्पत्ति नहीं रहा, प्रजा की सम्पत्ति हो गया है। महाराज रघु, हरिश्चन्द्र, नादिरशाह, पृथ्वीराज और अकबर राज्य पर राजा का स्वामित्व शाश्वत और ईश्वरीय न्याय ही समझते थे। यदि आज देश को प्रजा की सम्पत्ति मानकर, राज्य सँचालन में प्रजा की अनुमति, अधिकार ओर सहयोग को न्याय और सत्य-अहिंसा माना जा सकता है तो किसी मिल-कारखाने के संचालन और उसकी पैदावार में उस मिल या कारखाने को, उस में काम करने वाले सब लोगों की साझी सम्पत्ति मान कर उन का सहयोग और अनुमति न्याय और सत्य अहिंसा क्यों नहीं समझी जा सकती ? सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार के बारे में एक प्रश्न और पूछा जाय :—

मेरे मकान मालिक मुझ से प्रसन्न नहीं हैं। उनसे ऐसी आशा करना भी उचित नहीं है। में उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके मकान में रहता हूँ। दूसरे नगरों की तरह नैनीताल में भी रहने की जगह की कठिनाई है। जगह मिल ही नहीं रही थी। 'हाउस कन्ट्रोलर' की मारफत मिली है। मकान नें कुछ मरम्मत की आवश्यकता है। मकान मालिक से निवेदन किया। मेरा निवेदन उन्हें जले पर नमक जैसा लगा। इस मकान को वे अपने कब्जे में लेने के

लिए कई बार प्रयत्न कर चुके हैं। सभी सम्भव दलीलें मकान पर कब्जा पाने के लिए उन्हों ने दी हैं। यह भी कहा कि उनका अपना निजी मकान बहुत छोटा है, उसमें उनका निर्वाह नहीं हो सकता। वे अपने इस मकान में रहना चाहते हैं परन्तु 'रेन्ट कन्ट्रोल' कानून बन गया है। यह कानून उनके रास्ते में बाधक है। वे मुझे अपने मकान से निकाल नहीं सकते।

मकान मालिक क्षोभ से कहते हैं--'मेरा मकान है और मैं ही उस में रह नहीं सकता ? मेरा मकान है मैं चाहे उसे गिरा दूं या उस में आग लगा दूँ ?....' दस वर्ष पूर्व अपने मकान के सम्बन्ध में वे जो चाहे कर सकते थे, आज नहीं कर सकते इस बारे में न्याय और सुव्यवस्था की रक्षक पुलिस आज मेरे साथ है। दस वर्ष पूर्व मालिक मकान का अपने मकान को मनमाने ढंग से उपयोग करना, उसका मन चाहा किराया ले सकना, पन्द्रह दिन या एक मास का नोटिस देकर मुझे मकान से निकलवा देना उनके व्यक्तिगत-सम्पत्ति के शाश्वत न्याय का अंग था। उस समय पुलिस और अदालत उनके साथ थी। गत युद्ध के समय युद्ध के प्रयत्नों को जारी रख सकने के लिए नगरों की जन-संख्या बढ़ गई थी। मकानों के किराये मकानों की मांग से ऐसे बढ़ने लगे जैसे, सुनते हैं रात भर में तालाब में चाहे जितने हाथ पानी चढ़ जाय कमल के फूल और पत्ते जल से ऊपर ही रहेंगे।

यदि मकान मालिक उस समय मकानों के किराये के बारे में मनमानी कर सकते तो ऐसी अशान्ति पैदा हो जाने का भय था कि सर्व-साधारण की तो बात ही क्या, सरकारी अफसरों की पूरी तनख्वाह मकान मालिकों को सन्तुष्ट करने में ही खप जाती या सरकार का काम चलाने वाले अफसर सड़कों पर नजर आने लगते।

राशन और कन्ट्रोल की ही बात सोचिये, दस पन्द्रह वर्ष पूर्व दूकानदार का यह न्यायपूर्ण और प्राकृतिक अधिकार माना जाता था कि वे अपनी सम्पत्ति के गल्ले का मन चाहे दाम वसूल कर मुनाफा कमा सकें। दूकानदार और ग्राहक के बीच में बोलने का अधिकार किसी को न था। उस समय यदि अंग्रेज सरकार व्यापारी और मकान मालिक के शाश्वत न्याय पूर्ण अधिकार में दखल न देती तो सम्पूर्ण आर्थिक सामाजिक व्यवस्था भूचाल से गिरे हुए मकान की तरह बिखर जाती।

आज भी हमारी कांग्रेसी सरकार वैयक्तिक सम्पत्ति और स्वतन्त्र व्यापार

के न्यायपूर्ण अधिकारों में हस्तक्षेप करती दिखाई देती है परन्तु यह हस्तक्षेप पूंजीवादी व्यवस्था की रक्षा के लिए सीमित रहता है, समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने की ओर नहीं जा पाता। इन आर्थिक और राजनैतिक कार्यक्रमों का उद्देश्य पूंजीवादी, शाश्वत माने जाने वाले सत्य-अहिंसा की रक्षा ही है, इसलिए कांग्रेसी सरकार इन्हें अहिंसा समझती है परन्तु अनेक पूंजीपतियों को सभी कन्ट्रोल भयंकर हिंसा जान पड़ते हैं। गांधी जी बड़ी दृढ़ता से कन्ट्रोल का विरोध करते रहे।

गांधीवाद और भारतीय संस्कृति में विश्वास का दावा करने वाले लोग प्राय: न्याय की अपेक्षा दया-धर्म पर अधिक जोर देते है। उनकी धारणा है कि समाज में शांति और सुव्यवस्था की स्थापना न्याय और समता के लिए संघर्ष करने से, सामूहिक शक्ति से अन्याय को मिटा देने से नहीं हो सकती। संघर्ष से केवल संघर्ष और हिंसा ही पैदा होगी ? उनका उपदेश है कि न्याय और शांति केवल दरिद्रों और दुखियों के प्रति प्रेम और दया के भाव से सम्पन्न लोगों का हृदय परिवर्तन कर देने से ही हो सकती है। आध्यात्म और तर्क का मार्ग धुन्धला और टेढ़ा होता है। पार्थिव उदाहरण सीधा और स्पष्ट है। आप स्वीकार करेंगे कि देश के शासन के लिए एकछत्र राजा की तानाशाही की अपेक्षा जनमत से प्रजातन्त्र शासन अधिक न्याय पूर्ण है। इतिहास की ओर देखिये, राजसत्ता के स्थान में प्रजातंत्र शासन की स्थापना प्रेम और दया से द्रवित राजाओं और सम्राटों के हृदय परिवर्तन के कारण हुई है या जनता ने संघर्ष करके राजाओं से यह अधिकार लिया है ?

दया और त्याग की निन्दा नहीं की जा सकती परन्तु नित्य जीवन में दया और त्याग का क्रियात्मक रूप क्या होना चाहिए ? आप जानते हैं कि गांधीवाद दरिद्रनारायण की पूजा करता है और गरीबों पर दया का उपदेश देता है। गांधीवाद के अनुसार इन दाइयों और डोटियालों को मनुष्य बनाने का उपाय इन पर दया करना है। प्रश्न है कि इन पर कैसे दया की जाय और कितनी दया की जाय ? क्या इतनी दया की जाय कि इन्हें दया की भीख मांगने की आवश्यकता न रहे ? दया करना यदि धर्म का काम है तो दया कर सकने वाला मालिक दीनों पर दया द्वारा धर्म करने का सामर्थ्य रखना ही चाहेगा; स्वयं दया के योग्य बन जाना नहीं चाहेगा।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि दरिद्रों और गरीबों पर दया

करने का उपदेश किसे सूझा होगा ? यह उपदेश क्या स्वयं दरिद्रों ने ही सामर्थ्यवानों को दिया होगा ? जब दरिद्र ऐसा उपदेश देगा तो यह उपदेश न रह कर दया की भीख समझा जायगा। दया का आदेश, उपदेश तभी समझा जा सकता है जब स्वयं सामर्थ्यवान श्रेणी के मुख से निकला हो।

यह कल्पना करना कठिन है कि सामर्थ्यवान लोगों ने अपनी सत्ता और शक्ति दरिद्रों के साथ बटा लेने के लिए और अपनी शक्ति कम कर लेने के लिये दया का उपदेश दिया होगा। दया के उपदेश का प्रयोजन दया करने वाली श्रेणी की प्रभुता और प्रतिष्ठा को बढ़ाना और उनके उपयोग में आने वाली, दया के योग्य श्रेणी को मिट जाने से बचाये रखना है। इस प्रयोजन से दाइयों और डोटियालों पर की जाने वाली दया का रूप यह होगा कि कभी-कभी उन्हें कम्बल बाँट दिए जाँय, बीमार हो जाने पर उन्हें मुफ्त दवा दे दी जाय और यह लोग दया करने वाली श्रेणी के उपयोग के लिये जीवित बने रहें; वैसे ही जैसे कि गाय या भैंस से निरंतर दूध पाते रहने के लिये या घोड़े की सवारी संतोषजनक रूप में करते रहने के लिये इन जीवों पर दया की जाती है।

यदि मालिक श्रेणी दरिद्रों पर दया कर सकने का अधिकार और अभिमान छोड़कर उन्हें मनुष्य बन जाने का अवसर दे दे तो क्या हो ? यदि मालिक श्रेणी के हृदय-परिवर्तन से ऐसी अवस्था आ सके तो अच्छा ही है परन्तु मालिक लोगों में अपने विनाश की या अपना अस्तित्व मिटा देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाने की आशा प्राचीन इतिहास के अध्ययन के आधार पर नहीं की जा सकती। जीवों का स्वभाव ऐसा नहीं है। समाज में कृत्रिमता या भौतिक विकास ने मानवता के सामर्थ्य तथा अधिकार का क्षेत्र और अवसर बढ़ाया है। मनुष्य-समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों ने भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न हो गये अवसरों के अनुकूल अपने अस्तित्व और विकास के लिये संघर्ष करके पूर्ण समाज को विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाया है। समाज के विकास के इतिहास में मालिक श्रेणी की दया का कोई स्थान नहीं रहा। हमारे समाज की कुली-मजदूर श्रेणी का भविष्य भी मालिक श्रेणी की दया पर नहीं, इस श्रेणी की अपनी चेतना, जीवन की इच्छा और संगठित संघर्ष की शक्ति पर ही निर्भर करता है।

मालिक श्रेणी के सुखी होने का रहस्य यह है कि उनकी आवश्यकता पूर्ति

करने वाले साधनहीनों के रूप में दासों की एक बहुसंख्यक श्रेणी मौजूद रहे।

यह चिन्ता की बात है कि कुली-मजदूर श्रेणी को सुखी बनाने के लिये, उनके लिये श्रम करके यथेष्ट पैदावार करने वाली 'दास शक्ति' कहाँ से आयेंगी ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत सीधा है—यह दास शक्ति मशीनों के आवश्यक विकास के रूप में उत्पन्न हो सकती है।

मालिक श्रेणी की दया से साधनहीन श्रेणी के उद्धार का अर्थ कुली-मजदूर श्रेणी का आत्मनिर्भर हो जाना या आत्मनिर्णय का अधिकार पा लेना नहीं हो सकता। इसका अर्थ साधनहीनों को मालिकों की दया पर निर्भर बने रहना ही है। मुझे यह भाव और आदर्श अप्रिय लगते हैं क्योंकि स्वयं साधनहीन श्रेणी का अंग होने के नाते मुझे इस में अपना अपमान जान पड़ता है। मैं अवसर मिलने पर साहब लोगों के कन्धे से कन्धा ठेल कर चलता हूँ। कुछ लोगों को यह बात दम्भ जान पड़ेगा कि मैं अपने आपको साधनहीन श्रेणी का अंश बताऊँ; लेकिन मेरी वास्तविकता मुझसे अधिक दूसरा कौन जान सकता है ? अवसर के संयोग से मैं शोषण के जाल से बाहर हूँ। जैसे मछलियों को पकड़ने के लिये नदी में जाल डालने पर कोई मछली पैंतरा काटकर जाल में फंसने से बच जाये। ऐसा कर सकने पर भी मछली तो मछली ही रहेगी और मछली पकड़ने वाली 'शोषक मालिक' श्रेणी से उस का सम्बन्ध बदल नहीं जायगा।

मैं साधनों के स्वामित्व के बल पर नहीं, अपने श्रम के बल पर निर्वाह करता हूँ। श्रेणी के नाते मैं एक कलमजीवी (लेखक) हूँ। इस पूँजीवादी प्रणाली में लेखक की हस्ती ही क्या है ? पूँजी की मालिक श्रेणी की दृष्टि में जिस लेखक की जैसी उपयोगिता हो, उतना ही उसका मूल्य है। आज हमारे समाज में कितने लेखकों को अपने मन की बात और विचारों को साहस से लिख सकने का अवसर है ? लेखक साधनहीन होने के कारण निर्वाह के लिये अपना श्रम या उपयोगिता साधनवानों के हाथ किराये पर देने या बेचने के लिये मजबूर है। साधनों के अभाव में लेखकों की प्रतिभा जनता तक नहीं पहुँच सकती। पूँजीपति ऐसे मजबूर लेखकों को जनता के विचारों पर अपना नियंत्रण रखने का औजार या मशीन समझते हैं इसलिये इन ऐसी मशीनों या लेखकों को प्रायः पुचकार कर और सावधानी से रखने की चेष्टा भी करते हैं।

कभी-कभी मुझे मालिक श्रेणी से कंधा ठेल कर, उनके बीच घुसकर बैठ जाने का भी अवसर मिल जाता है। ऐसी अवस्था में भी मेरा दृष्टिकोण साधनहीन श्रेणी का ही रहता है इसलिये मैं नैनीताल के 'रोचक' और 'शोषक' दोनों ही रूपों को देख पाता हूँ।

लेख के इस प्रकार के लेखों का दूसरा संग्रह--"बीबी जी कहती है मेरा चेहरा रोबीला है।'

यशपाल साहित्य

सिंहावलोकन तीन भाग

यशपाल के क्रान्तिकारी जीवन की आत्मकथा:—

सिंहावलोकन—प्रथम भाग (साण्डर्सवध, असेम्बली-बमकांड और लाहौर बम फैक्टरी की कहानी) मू० ५)

सिंहावलोकन—दूसरा भाग (वायसराय की ट्रेन के नीचे बम विस्फोट, लाहौर जेल पर आक्रमण की तैयारी, बहावलपुर रोड बमकेस, आतिशीचक्कर) मू० ५॥)

सिंहावलोकन—तीसरा भाग (दल का पुनः संगठन, अदालत में इन्द्रपाल का चमत्कार, आज़ाद, शालिग्राम, भगतसिंह आदि की शहादत, कानपुर गोलीकांड, पुलिस से अंतिम टक्कर, विश्वासघात के प्रलोभन, जेल का विकृत जीवन, अनशन, जेल में विवाह, रिहाई में अड़चनें) मू० ५)

उपन्यास

१—झूठासच—वतन और देश ११)
२—झूठासच—देश का भविष्य १४)
३—मनुष्य के रूप ६॥)
४—पक्का कदम ५)
५—देशद्रोही ६॥)
६—दिव्या ५)
७—पार्टी कामरेड २॥)
८—दादा कामरेड ४)
९—अमिता ५)
१०—फसल ६)
११—जुलेखाँ ७॥)

कहानी संग्रह

१—अभिशप्त ३)
२—वो दुनिया ३)
३—ज्ञानदान ३)
४—फूलो का कुर्ता ३)
५—पिंजरे की उड़ान ३)
६—तर्क का तूफान ३॥)
७—भस्मावृत्त चिन्गारी ३)
८—धर्मयुद्ध ३)
९—उत्तराधिकारी ३)
१०—चित्र का शीर्षक ३)
११—तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ ! ३)
१२—उत्तमी की माँ ३)
१३—ओ भैरवी २॥)

नाटक

नशे नशे की बात ! ३)

साहित्यिक और राजनैतिक निबन्ध

मार्क्सवाद ४)
चक्कर क्लब ३)
न्याय का संघर्ष ३)
बात-बात में बात ३)
रामराज्य की कथा ३)
देखा, सोचा, समझा ! ३॥)
गांधीवाद की शव परीक्षा ३)
बीबी जी कहती हैं मेरा चेहरा रोबीला है ३)

यात्रा वर्णन

लोहे की दीवार के दोनों ओर ७)
राहबीती ३॥)

विप्लव कार्यालय, लखनऊ

स्टाक में इस समय सभी पुस्तकें नवीनतम संस्करणों में प्रस्तुत हैं।